श्रीमद्भागवत की श्रेष्ठ कहानियाँ

श्री व्यथितहृदय



श्रीमद्भागवत की श्रेष्ठ कथाएँ

श्री व्यथितहृदय

भूमिका

वेदों पर भाष्य और महाभारत की रचना करने के पश्चात् श्री वेदव्यास जी के मन को शान्ति नहीं हुई। उन्हें ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो उन्होंने अब तक जो-कुछ किया है, वह अधूरा है, अपूर्ण है। अभी उन्हें और भी कुछ करना चाहिए। किन्तु क्या करना है— यह वेदव्यास जी को प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चल पा रहा था। वे अत्यधिक चिन्तित और उदास होकर सरस्वती नदी के तट पर चले गये, एकान्त में आश्रम बना कर रहने लगे। सरस्वती नदी के तट पर चारों ओर प्रकृति का वैभव बिखरा हुआ था, दिन-रात सुगंधित वायु चला करती थी, मधुर कंठों में पक्षी बोलते रहते थे; किन्तु फिर भी वेदव्यास जी का मन वहां नहीं लग रहा था। उन्हें ऐसा बोध हो रहा था कि उनका कुछ खो गया है अथवा उनसे कुछ छूट गया है।

संयोग की बात, एक दिन वेदर्षि नारद भ्रमण करते हुए वेदव्यास जी के आश्रम में पहुंचे। वेदव्यास जी ने उनके समक्ष अपनी मनोव्यथा रखी। उन्होंने पूछा— वेदों पर भाष्य और महाभारत की रचना करने के पश्चात् भी मेरे मन को शान्ति क्यों नहीं प्राप्त हो रही है?

देवर्षि नारद ने उत्तर दिया— वेदव्यास जी, आपको कुछ करना चाहिए था, अब तक आपने ऐसा कुछ नहीं किया। आपको सर्वप्रथम भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र लिखना चाहिए था। जब तक आप भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र नहीं लिखेंगे, आपके मन को शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

नारद जी की प्रेरणा से वेदव्यास जी को अपनी भूल का पता चल गया। वे बड़े प्रेम से भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र का चित्रण करने लगे। वे कई वर्षों तक साधना में संलग्न रहे। उनकी उस साधना का ही परिणाम है— श्रीमद्‌भागवत।

वेदव्यास जी ने सर्वप्रथम अपने पुत्र श्री शुकदेव जी को श्रीमद्‌भागवत सुनाया था। श्री शुकदेव जी से महाराज परीक्षित ने सर्वप्रथम श्रीमद्‌भागवत के रस का पान किया था। कई सहस्र वर्ष हो चुके हैं, तब से लेकर आज तक श्रीमद्‌भागवत के अमृत-रस का अखंड प्रवाह बहता चला जा रहा है, अनन्त काल तक बहता चला जायेगा। वह कभी भी सूख नहीं सकेगा, क्योंकि उसमें

शाश्वत रस है, शाश्वत वाणी है और शाश्वत चरित्र है।

श्रीमद्भागवत भारत का ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व का एक अलौकिक और उच्च कोटि का ग्रन्थ है। यदि विश्व के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों का मंथन किया जाये, तो श्रीमद्भागवत के सदृश ग्रन्थ कोई नहीं मिलेगा। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित्र का चित्रण तो है ही; भाषा, शैली, वर्णन और रस की अनुपमता भी है। ऐसी अनुपमता है जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। स्विट्ज़रलैण्ड के एक प्रोफेसर ने मुझसे कहा था—मैंने कई भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन किया है, किन्तु मुझे श्रीमद्भागवत में जो रस प्राप्त हुआ वह अन्यत्र कहीं नहीं मिला।

स्विट्ज़रलैण्ड के उक्त प्रोफेसर वहां की सरकार के सूचना विभाग के द्वारा श्रीमद्भागवत पर अनुसंधान कर रहे थे। मैं उन दिनों श्रीकृष्ण जन्मभूमि मथुरा से प्रकाशित होने वाले 'श्रीकृष्ण संदेश' का सम्पादक था। उक्त प्रोफेसर श्रीमद्भागवत के सम्बन्ध में अपने प्रश्नों की लम्बी सूची लेकर मेरे पास आये थे। मैंने उन्हें स्वर्गीय स्वामी अखंडानन्द जी के पास भेज दिया था। मुझे उनकी सूचना के प्रश्नों को पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ था और साथ ही यह सोच कर दुःख भी हुआ था कि पश्चिम की विदेशी सरकारें तो श्रीमद्भागवत को महत्त्व देती हैं, किन्तु मेरे देश की सरकार ने अभी तक इस दिशा में कुछ भी कार्य नहीं किया।

श्रीमद्भगवत में सब-कुछ है। क्या नहीं है—कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रेम है, भक्ति है, ज्ञान है और वैराग्य भी है। आदि से लेकर अन्त तक श्रीकृष्ण के चरित्र की पवित्र गंगा की लहरों में मन डूबा रहता है। एक-से-एक बढ़कर प्रेरक और श्रेष्ठ कथाएँ हैं, जो हृदय में अमृत-रस घोलती हैं। श्रीमद्भागवत के पठन-पाठन से मोक्ष की प्राप्ति होगी या नहीं—मैं कह नहीं सकता, पर मैं यह अवश्य कह सकता हूं कि शान्ति और आनन्द अवश्य प्राप्त होगा। केवल शान्ति और आनन्द ही प्राप्त नहीं होगा, मानवता के पथ पर चलने की प्रेरणा भी मिलेगी। मैं अपने देश के नागरिकों और सरकारी प्रतिष्ठानों से विनयपूर्वक अनुरोध करूंगा कि वे श्रीमद्भागवत के पठन-पाठन को महत्त्व दें। ऐसा करने से अज्ञान के अंधकार को दूर करने में सहायता मिलेगी, जो आज चारों ओर फैला हुआ है।

आशा है, मेरे देश का शिक्षित प्रौढ़ और युवा वर्ग इन कथाएँओं को उतने ही प्रेम से पढ़कर प्रेरणा लेगा, जितना प्रेम इन कथाओं में भरा हुआ है।

— श्री व्यथितहृदय

अनुक्रम

धुंधुकारी की मुक्ति 9
श्रीकृष्ण के वियोग में 15
परीक्षित को श्राप 18
श्राप का दंड 23
हिरण्याक्ष-वध 26
देवहूति की गोद में 29
सती का शरीर-त्याग 32
ध्रुवलोक की प्राप्ति 38
वेणु का विनाश 44
प्रजापालक पृथु 48
प्रचेताओं की साधना 52
बलि का कुफल 54
आसक्ति का मद 56
गार्हस्थ्य जीवन की श्रेष्ठता 60
ऋषभदेव का त्याग 63
भरत और मृग 65
जड़ भरत 67
अजामिल 70
गुरु के अपमान का फल 73
वृत्रासुर का वध 75
चित्रकेतु का मोहभंग 77
अभिशाप 81
प्रह्लाद का जन्म 83
प्रह्लाद की दृढ़ता 86

गजेन्द्र-मोक्ष	91
सागर-मंथन	94
देवासुर संग्राम	99
वामन-अवतार	102
मत्स्य-अवतार	108
अम्बरीष	111
गंगावतरण	114
रामावतार	119
सहस्त्रबाहु और परशुराम	125
ययाति का ज्ञान-उदय	129
दुष्यन्त और शकुन्तला	133
रंतिदेव	137
वसुदेव और देवकी का विवाह	139
भगवान श्रीकृष्ण का जन्म	143
शिशु-लीला	148
बाल-लीला	154
वृन्दावन में	158
ब्रह्मा का मतिभ्रम	162
कालियदमन	164
गोवर्धनधारण	168
अक्रूर के द्वारा निमंत्रण	171
कंस का वध	174
जरासंध का आक्रमण	181
कालयवन और जरासंध	183
रुक्मिणी-हरण	186
स्यमंतक मणि	190

धुंधुकारी की मुक्ति

(श्रीमद्भागवत की कथाएँ अमृत के समान आनन्ददायिनी है।)

प्राचीन काल में तुंगभद्रा नदी के किनारे एक अत्यधिक सुन्दर नगर था, धनधान्य से भी पूर्ण था। नगर में जितने लोग निवास करते थे, सभी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे।

उसी नगर में एक ब्राह्मण भी निवास करता था। उस ब्राह्मण का नाम आत्मदेव था। आत्मदेव वेदों और शास्त्रों का ज्ञाता था, धनधान्य से पूर्ण था। उसकी पत्नी का नाम धुंधुली था।

आत्मदेव विद्वान और धनी तो था किन्तु भिक्षाजीवी था। वह भिक्षा के द्वारा ही जीवन का निर्वाह किया करता था। उसकी पत्नी थी तो अच्छे वंश की, पर बड़ी वाचाल और छिद्रान्वेषिणी थी। उसे दूसरों में दोष देखने और उनके दोषों की चर्चा करने में बड़ा सुख मिलता था।

आत्मदेव को धन-सम्बन्धी किसी प्रकार का दु:ख नहीं था, किन्तु एक बड़ा दु:ख उसके मन को दु:खी और चिन्तित बनाये रहता था। उसकी कोई सन्तान नहीं थी। वह सन्तान के अभाव की आग में दिन-रात जला करता था।

आत्मदेव ने सन्तान की प्राप्ति के लिए याग-यज्ञ किये, दान-दक्षिणा दिये और गरीबों तथा ब्राह्मणों को भोजन-वस्त्र भी दिये, किन्तु उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई। जब सब कुछ करके आत्मदेव हार गया, तो उसके मन का दु:ख और भी अधिक बढ़ गया। दु:ख की आग से उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया।

आत्मदेव को घर वन की भांति मालूम होने लगा। आखिर, एक दिन वह वन में जाने के लिए घर से निकल पड़ा। उसके मुख पर दु:ख की छाया नाच रही थी। उसकी आंखों में उदासी थी। उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया था। वह मार्ग में बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा था।

संयोग की बात, आत्मदेव की एक संन्यासी से भेंट हुई। संन्यासी एक परम सिद्ध और योगी थे। उन्होंने आत्मदेव को देखकर उससे पूछा—क्यों भाई, क्या

बात है? तुम अत्यधिक चिन्तित और उदास दिखायी पड़ रहे हो। क्या मैं तुम्हारी चिन्ता और उदासीनता का कारण जान सकता हूं?

संन्यासी की मृदुल और प्यारभरी वाणी से उसके दुःख का बादल गल उठा। उसकी आंखें सजल हो गयीं। वह एक लम्बी उसांस लेकर बोला— महात्मन्, जीवन में सब कुछ तो है, सन्तान नहीं है। सन्तान न होने के कारण जीवन और जगत अंधकारमय लगता है।

संन्यासी के मन में दया जाग उठी। उन्होंने आत्मदेव को समझाते हुए कहा— ब्राह्मण श्रेष्ठ, इस संसार में जो कुछ है, सब मिट जाने वाला है। पुत्र, पुत्री, धन और भवन आदि सब व्यर्थ है। इनके लिए दुःख और चिन्ता करना अज्ञानता है। मनुष्य को भगवान की भक्ति में ही सच्चा सुख प्राप्त होता है। अतः भक्ति के लिए ही चिन्ता करनी चाहिए, धन और पुत्रादि के लिए कभी भी चिन्ता और दुःख नहीं करना चाहिए।

किन्तु संन्यासी की ज्ञानमयी वाणी का किंचित् भी प्रभाव आत्मदेव के हृदय पर नहीं पड़ा। जिस प्रकार चिकने घड़े के ऊपर गिरकर पानी की बूंदे फिसल जाती हैं, उसी प्रकार संन्यासी की वाणी भी आत्मदेव के हृदय पर फिसल गयी। वह बड़े ही दुःख-भरे स्वर में बोला— महात्मन् चाहे जिस प्रकार हो, मुझे एक पुत्र अवश्य दीजिये। यदि आप मुझ पर कृपा नहीं करेंगे, तो मैं आप के समक्ष ही अपने शरीर का परित्याग कर दूंगा।

संन्यासी विचारों की लहरों में डूबकर सोचने लगे। उन्होंने सोचते हुए कहा— ब्राह्मण, सात जन्मों तक आपको सन्तान मिलने वाली नहीं है। अतः हठ छोड़कर भगवान के चरणों में मन लगाइये।

किन्तु फिर भी आत्मदेव अपनी ही बात पर अड़ा रहा। संन्यासी ने जब समझ लिया कि यह किसी भी प्रकार अपना हठ नहीं छोड़ेगा, तो उन्होंने सोचते हुए कहा— अच्छी बात है, मैं तुम्हें एक फल दे रहा हूं। यदि तुम्हारी पत्नी एक मास तक व्रत रखने और दान-दक्षिणा देने के पश्चात् इस फल को खायेगी, तो उसके गर्भ से एक ज्ञानी और सदाचारी बालक उत्पन्न होगा, जो तुम्हें सुख प्रदान करेगा।

संन्यासी ने आत्मदेव को फल देकर अपना रास्ता लिया। आत्मदेव मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ। वह वन न जाकर घर लौट गया।

आत्मदेव ने घर जाकर अपनी पत्नी को फल दे दिय.। उसे फल खाने की विधि बता कर उसका परिणाम भी बता दिया।

किन्तु आत्मदेव की पत्नी बड़े उलटे स्वभाव की थी। दूसरों की तो बात ही

क्या, अपने पति पर भी उसका विश्वास नहीं था। वह फल पाकर तर्क-वितर्क करने लगी— फल खाने पर न जाने क्या होगा?

धुंधुली के मन के तर्क-वितर्क ने उसे फल खाने नहीं दिया। उसने उस फल को ताख पर रख दिया।

संयोग की बात, उन्हीं दिनों धुंधुली की छोटी बहन उससे मिलने के लिए उसके घर गयी। वह गर्भवती थी। वह धुंधुली के मन की पीड़ा को जानती थी। उसने उससे कहा— बहन, मेरे पति इस समय अर्थ की चिन्ता से ग्रसित हैं। तुम उन्हें कुछ अर्थ देकर चिन्तामुक्त कर दो। मैं गर्भवती हूं। मेरे जब बालक उत्पन्न होगा तो मैं उस बालक को तुम्हें दे दूंगी।

धुंधुली ने जब अपनी बहन से संन्यासी के फल की चर्चा की, तो उसकी बहन ने उत्तर में कहा— बहन, तुम क्यों झगड़े में पड़ती हो? पता नहीं, फल खाने से बालक उत्पन्न हो या न हो। मैं अपना बालक तुम्हें दे दूंगी। तुम उस फल को गाय को खिला दो।

धुंधुली ने अपनी बहन की बात मान कर उसे धन दे दिया और वह फल गाय को खिला दिया। वह गर्भवती होने का ढोंग रच कर एकान्त में रहने लगी। ब्राह्मण को क्या पता था कि उसकी सहधर्मिणी ही उसे धोखा दे रही है। जहां धोखा और छल होता है, वहां दुःख और अशान्ति को छोड़कर और कुछ नहीं होता।

कुछ दिनों के पश्चात् धुंधुली की बहन ने एक बालक को जन्म दिया। उसने अपने वचन के अनुसार अपना बालक अपने पति के द्वारा धुंधुली के पास भेज दिया। धुंधुली प्रसूतिगृह में जा बैठी। उसने अपने पति पर प्रकट किया कि उसके गर्भ से एक बालक उत्पन्न हुआ है। उसने एक और भी छल किया। उसने अपने पति से कहा— उसके स्तनों में दूध नहीं उतर रहा है। उसकी छोटी बहन के गर्भ से भी एक बालक उत्पन्न हुआ था, किन्तु वह पैदा होते ही चल बसा। अतः उसके बालक को दूध पिलाने के लिए उसकी बहन को बुला देना चाहिए।

आत्मदेव ने अपनी पत्नी के कथनानुसार ही उसकी छोटी बहन को बुला दिया। उसको क्या पता था कि जो कुछ हो रहा है वह जाल है, षड्यंत्र है।

उधर गाय ने भी समय पर एक बालक को जन्म दिया। वह बालक बिलकुल मनुष्य के बालक के समान था। उसके केवल कान गाय के समान थे। आत्मदेव उस बालक को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसका नाम गोकर्ण रखा।

धुंधुली ने अपने पुत्र का नाम धुंधुकारी रखा था। धुंधुकारी और गोकर्ण धीरे-

धीरे बड़े होने लगे। बड़ा होने पर गोकर्ण बड़ा ज्ञानी और बड़े अच्छे विचारों वाला हुआ। किन्तु धुंधुकारी बिलकुल उसका उलटा हुआ। वह कुपथगामी हुआ, दुष्ट स्वभाव का हुआ।

धुंधुकारी बड़ा होने पर बुरे-बुरे कामों में दोनों हाथों से धन उड़ाने लगा। पिता जब उसे रोकता, समझाता, तो वह उस पर बरस पड़ता था। उसकी बात को मानना तो दूर रहा, वह उसे जली-कटी सुनाने लगा।

आत्मदेव जब धुंधुकारी के आचरणों और व्यवहारों से आकुल हो गया, तो वह घर छोड़कर वन जाने लगा। गोकर्ण ने अपने पिता को समझाते हुए कहा— पिता जी, केवल वन जाने से कुछ नहीं होगा। होगा, सच्चे मन से भगवान के चरणों में ध्यान लगाने से। जहां भी रहिये, चित्त को एकाग्र करके भगवान का ध्यान कीजिये। उन्हीं को सब-कुछ मानकर उन्हीं के चरणों में जीवन समर्पित कर दीजिये।

गोकर्ण के कथन से आत्मदेव को सच्चा मार्ग मिल गया। वह वन में जाकर भगवान श्री कृष्ण के चरणों में ध्यान लगाने लगा। वह उनके ध्यान और उनके गुण और संकीर्तन को ही सब कुछ मानकर चलने लगा। उसे जीवन में शान्ति तो प्राप्त हुई ही, मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति भी हुई।

उधर पिता के वन-गमन के पश्चात् गोकर्ण तीर्थों में परिभ्रमण करने लगा, धर्ममय जीवन व्यतीत करने लगा।

पिता और भाई के न रहने पर धुंधुकारी तीव्र गति से कुपथ पर चलने लगा। जुआ खेलने लगा, मद्यपान करने लगा और बुरे आचरण वाली स्त्रियों की वासना की आग में धन झोंकने लगा। क्या धर्म है और क्या अधर्म है— सब-कुछ भूल गया।

एक दिन धुंधुकारी अपनी मां के पास जाकर उससे धन मांगने लगा। जब मां ने देने से मना किया, तो उसने मद्य के नशे में उसे बुरा-भला कहा। उसकी मां को इतना दुःख हुआ कि उसने कुएं में कूद कर अपनी जान दे दी।

मां की मृत्यु के पश्चात् अब धुंधुकारी को रोकने वाला कोई नहीं था। वह वेश्याओं के जाल में फंस कर दोनों हाथों से धन लुटाने लगा।

वेश्याएं तो वेश्याएं ही थीं। उन्हें तो न धर्म से वास्ता था न प्रेम से। उन्हें तो केवल धन चाहिए था। उन्होंने आपस में मिल कर सोचा, धुंधुकारी प्रतिदिन हमें धन देता है। एक-न-एक दिन यह अवश्य पकड़ा जायेगा। जब यह पकड़ा जायेगा, तो इसके साथ हमें भी दंड भोगना पड़ेगा। क्यों न हम इसे मारकर, इसका सारा धन अपने अधिकार में ले लें।

एक दिन वेश्याओं ने अवसर पाकर रात में धुंधुकारी को मार डाला। उसके मृत शरीर को भूमि के भीतर डाल दिया। धुंधुकारी मरने पर बहुत बड़ा प्रेत बना और अपने पैतृक घर में निवास करने लगा।

तीर्थों में भ्रमण करते हुए गोकर्ण को धुंधुकारी की मृत्यु का समाचार मिला। वह बड़ा दुःखी हुआ। वह अपने नगर में जा पहुंचा।

रात का समय था। गोकर्ण अपने पैतृक घर के आंगन में सो रहा था। धुंधुकारी भयंकर प्रेत के रूप में प्रकट होकर उसे डराने लगा।

गोकर्ण ने धुंधुकारी-रूपी प्रेत से पूछा—तुम कौन हो?

धुंधुकारी-रूपी प्रेत ने उत्तर दिया—मैं तुम्हारा भाई धुंधुकारी हूं, प्रेत की योनि में बड़ा कष्ट भोग रहा हूं। मेरा उद्धार करो, मुझे दुःख के बन्धनों से छुड़ाओ।

धुंधुकारी-रूपी प्रेत सिसक-सिसक कर रोने लगा। गोकर्ण के मन में दया उत्पन्न हो उठी। उसने धुंधुकारी को ढाढ़स बंधाते हुए कहा—तुम धैर्य धारण करो। मैं गया में जाकर पिंडदान करूंगा। तुम्हें दुःख से छुटकारा मिल जायेगा।

धुंधुकारी बोला—गया में पिंडदान करने से कुछ नहीं होगा। मेरे पाप इतने अधिक हैं कि चाहे जितने पिंडदान करो, कुछ भी कल्याण नहीं होगा। मेरे कल्याण के लिए कोई और उपाय सोचो।

गोकर्ण ने सूर्यदेव से प्रार्थना की—प्रभो, आप सारे जगत का कल्याण करते हैं। कृपया मेरे भाई के कल्याण के लिए कोई उपाय बताइये।

सूर्यदेव ने उत्तर में कहा—यदि तुम्हारा भाई श्रद्धापूर्वक श्रीमद्भागवत की कथा को सुने, तो वह प्रेत की योनि से मुक्ति पा सकता है।

गोकर्ण ने दूसरे ही दिन श्रीमद्भागवत की कथा के सप्ताह का आयोजन किया। वह स्वयं व्यास के आसन पर बैठकर कथा सुनाने लगा। कथा सुनने के लिए जहां और लोग आये, वहां धुंधुकारी भी कथा सुनने के लिए आया। वह श्रोताओं में न बैठ कर एक ऐसे बांस में बैठकर कथाएँ सुनने लगा, जिसमें सात गांठें थीं।

प्रथम दिन की कथा समाप्त होने पर श्रोताओं ने बड़े आश्चर्य के साथ देखा कि बांस की पहली गांठ जोर से शब्द करके फट गयी। इसी प्रकार रोज एक-एक गांठ फटने लगी। सात दिन में सातों गांठें फट गयीं। धुंधुकारी दिव्य रूप में प्रकट हुआ। उसने अपने भाई से कहा—मैं तुम्हारे उपकार को कभी भूल नहीं सकूंगा।

धुंधकारी ने अपने कथन को समाप्त किया ही था कि स्वर्ग के दूत विमान लेकर आ पहुंचे। उन्होंने धुंधुकारी से निवेदन किया—यह विमान आपके लिए है।

चलिये, स्वर्ग चलिये।

गोकर्ण को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उसने स्वर्ग के दूतों से प्रश्न किया— श्रीमद्भागवत की कथा तो धुंधुकारी के साथ और भी बहुत-से लोगों ने सुनी है! फिर अकेले धुंधुकारी को ही विमान पर बैठाकर स्वर्ग क्यों ले जाया जा रहा है? स्वर्ग के दूतों ने उत्तर दिया— कथा सुनने का लाभ उसी मनुष्य को मिलता है, जो श्रर्द्धापूर्वक चित्त को स्थिर करके कथा को सुनता है। जितनी श्रद्धा और जितनी एकाग्रता से धुंधुकारी ने कथा सुनी है, उतनी श्रद्धा और उतनी एकाग्रता से किसी ने भी नहीं सुनी है।

धुंधुकारी सबकी आंखों के सामने ही विमान पर बैठकर स्वर्ग चला गया। जो लोग सात दिनों तक श्रद्धा और एकाग्रता के साथ श्रीमद्भागवत की कथा को सुनते हैं, वे धुंधुकारी की भांति ही दुःखों के बंधनों से छूट जाते हैं।

श्रीकृष्ण के वियोग में

(समय के नाटक को कोई भी रोक नहीं सकता।)

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। सर्वनाश की काली छाया चारों ओर दौड़ रही थी। यद्यपि युद्ध में युधिष्ठिर को विजय प्राप्त हो गयी थी और शासन की बागडोर उनके हाथों में आ चुकी थी, पर फिर भी युधिष्ठिर का मन नहीं लग रहा था। इसका कारण था वह सर्वनाश, जो युद्ध के कारण हुआ था।

अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा गर्भवती थी। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा को जब इस बात का पता चला, तो उसके हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने मन-ही-मन निश्चय किया, जिस प्रकार पाण्डवों ने धृतराष्ट्र के वंश को समूल नष्ट कर दिया है, उसी प्रकार वह पाण्डवों के वंश को भी समूल नष्ट कर देगा।

अश्वत्थामा द्रौपदी के पुत्रों को पहले ही मृत्यु की गोद में सुला चुका था। यदि वह उत्तरा के गर्भस्थ पुत्र को भी काल के मुख में पहुंचा देता, तो सचमुच पाण्डवों के वंश का समूल विनाश हो जाता, क्योंकि अब कोई था ही नहीं, और न किसी के होने की आशा थी।

किन्तु जिसके रक्षक भगवान श्रीकृष्ण हों, उसका समूल विनाश कैसे हो सकता था? अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भस्थ बालक को नष्ट करने के लिए जब ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, तो भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं उसकी रक्षा की। उन्होंने गर्भ में प्रकट होकर ब्रह्मास्त्र के तेज को अपने ऊपर ले लिया। गर्भस्थ बालक भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य रूप को देखकर धन्य हो उठा। उसके हृदय-पट पर उनका दिव्य रूप चित्रित हो उठा। वह उनके उस रूप का भक्त बन गया, सदा-सदा के लिए भक्त बन गया।

समय पर उत्तरा ने एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। युधिष्ठिर के टूटे हुए मन में आशा की ज्योति जाग्रत् हो उठी। उन्होंने ज्योतिषियों को बुलाकर उसके भविष्य के सम्बन्ध में पूछताछ की। ज्योतिषियों ने बालक की कुंडली को बनाकर ग्रहों का अध्ययन करने के पश्चात् घोषणा की— यह बालक बड़ा प्रतापी और बड़ा

तेजस्वी होगा। भगवान का अनन्य भक्त होगा। धार्मिक जीवन व्यतीत करेगा और अपने कार्यों से अपनी प्रजा को प्रसन्न करेगा।

उत्तरा का यही बालक बड़ा होने पर परीक्षित के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि उसकी मृत्यु एक ऋषि के श्राप के कारण हुई, किन्तु यह बात तो सत्य है ही कि उसके यश की सुरभि चारों ओर फैली, दिग्दिगंत में फैली।

युद्ध के दुःखकारी परिणाम से जब युधिष्ठिर का मन अधिक उदास और समाकुल हो गया, तो भगवान श्रीकृष्ण ने बारी-बारी से उनसे तीन अश्वमेध यज्ञ कराये, किन्तु उन यज्ञों का भी कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। युधिष्ठिर के मन में जो दुःख और खिन्नता उत्पन्न हो गयी थी, वह दूर नहीं हुई, दूर नहीं हुई।

भगवान श्रीकृष्ण कुछ दिनों तक हस्तिनापुर में रहकर द्वारिका चले गये। उधर द्वारिका में यदुवंशियों का बड़ा बुरा हाल था। एक ऋषि के श्राप के कारण यदुवंशी मद्यपान करने लगे थे, जुआ खेलने लगे थे, अधर्म करने लगे थे और बुरे-बुरे कर्म करने लगे थे। आपस में ही लड़ने लगे थे, एक-दूसरे का विनाश करने लगे थे।

भगवान श्रीकृष्ण यदुवंशियों की बुरी दशा को देखकर बहुत दुःखी हुए। परिणाम यह हुआ कि समस्त यदुवंशी आपस में ही लड़कर काल के मुख में चले गये। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी अपनी लीला समाप्त करने के बाद अपने लोक में चले गये।

युधिष्ठिर को जब कई महीनों तक कोई समाचार नहीं मिला, तो उनका हालचाल जानने के लिए अर्जुन को द्वारिकापुरी भेजा।

अर्जुन जब द्वारिकापुरी चले गये, तो हस्तिनापुर में कई ऐसी घटनाएं घटीं, जो बड़ी हृदयद्रावक थीं।

तीर्थों में परिभ्रमण के लिए निकले हुए विदुर हस्तिनापुर लौट आये थे। एक दिन उन्होंने धृतराष्ट्र के पास जाकर कहा—धृतराष्ट्र, हम और तुम दोनों वृद्ध हो गये हैं। दोनों के सिर पर काल मंडरा रहा है। अब यहां हस्तिनापुर में रहने से लाभ क्या? चलो, अब यहां से निकल चलें। तुम्हारी हालत तो और भी बुरी है। तुमने जिन पाण्डवों का सब-कुछ छीन लिया था, जिन्हें भिखारी बना कर वन का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया था, और जिनकी द्रौपदी को सभा के मध्य में नग्न करने का प्रयत्न किया गया था, आज तुम उन्हीं के टुकड़ों पर जी रहे हो। धिक्कार है तुम्हें! ऐसे जीवन से तो मृत्यु अच्छी होती है।

धृतराष्ट्र के मन में पहले से ही पुत्रों के वियोग का बहुत बड़ा दुःख था।

विदुर के कथन ने उनके मन को हिला दिया। वे विदुर और गांधारी के साथ हस्तिनापुर को छोड़कर वन में चले गये। आश्चर्य है, पाण्डवों की मां कुन्ती ने भी उन्हीं का अनुगमन किया। बहुत रोकने और समझाने पर भी कुन्ती हस्तिनापुर में नहीं रुकी। वह धृतराष्ट्र के साथ ही वन में चली गयी। वन में ही वे तीनों प्राणी मृत्यु की गोद में सो गये। युधिष्ठिर को जब यह समाचार मिला, तो उनका हृदय दु:ख से कांप उठा। उनकी आंखों के सामने जो निराशा छायी हुई थी, वह और भी सघन हो गयी। उस दिन तो उनके लिए चारों ओर अंधकार पैदा हो गया। जब अर्जुन ने द्वारिका से लौटकर भरी हुई आंखों से उन्हें बताया कि, अग्रज, जिन भगवान श्रीकृष्ण की शक्ति से मैंने इन्द्र के गर्व को चूर किया था, जिनकी शक्ति से महाभारत के युद्ध में अपनी अजेयता सिद्ध की थी, और जिनकी शक्ति से मैंने खाण्डव वन को जला कर भस्म कर दिया था तथा जिनकी शक्ति से स्वर्ग को लज्जित करने वाले इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण हुआ था, वे वासुदेव अब धरती को छोड़कर अपने लीलाधाम में चले गये।

श्रीकृष्ण भगवान और यदुवंशियों का हाल सुन कर युधिष्ठिर का हृदय कांप उठा। उन्हें चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखायी पड़ने लगा। उनमें और उनके भाइयों में न तो अब पहले के समान पौरुष रह गया, न तेज रह गया। युधिष्ठिर इतने दु:खी और इतने निराश हुए कि वे अपने भाइयों और द्रौपदी को साथ लेकर स्वर्ग चले गये। उनके वंश में परीक्षित को छोड़कर कोई नहीं रह गया, कोई नहीं बचा। इसी को कहते हैं, समय का नाटक। जब श्रीकृष्ण भगवान ही समय के नाटक को नहीं रोक सके, तो फिर दूसरा कौन रोक सकथाएँ है!

परीक्षित को श्राप

(किसी काम को करने से पूर्व अच्छी तरह सोच-विचार कर लेना चाहिए।)

युधिष्ठिर जब अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ स्वर्ग चले गये, तो परीक्षित हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठकर राज्य करने लगे। परीक्षित बड़े धर्मात्मा, प्रतापी और तेजवान थे। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर सूर्य की प्रभा चारों ओर फैल जाती है, उसी प्रकार परीक्षित के यश की सुरभि भी चारों ओर फैल गयी। उनकी राजमहिषी का नाम इरावती था। उसके जनमेजय आदि चार पुत्र पैदा हुए थे।

एक बार परीक्षित के कानों में समाचार पड़ा कि उनके राज्य में कलियुग का प्रवेश हो चुका है। परीक्षित इस समाचार से दुःखी और चिन्तित हो उठे, क्योंकि कलियुग के प्रवेश का अर्थ था, राज्य में अधर्म और हिंसा की वृद्धि। परीक्षित ने सोचा कि चलो कोई बात नहीं, दुष्टों और कुपथगामियों को दबाने का अवसर प्राप्त होगा।

जब परीक्षित के प्रताप और बलविक्रम का सूर्य चमक उठा, तो उनके मन में दिग्विजय की इच्छा उत्पन्न हुई। वे रथ पर सवार होकर, धनुष-बाण लेकर दिग्विजय के लिए निकल पड़े। उनके मन में उत्साह था, साहस था और शौर्य था।

परीक्षित जहां भी जाते थे, विजय तो प्राप्त करते ही थे, अपने पूर्वजों की कीर्तिकथा भी सुना करते थे। वे लोगों से सुनते— पाण्डव बड़े प्रतापी और शूरवीर थे। भगवान श्रीकृष्ण की उन पर अनन्य कृपा थी। जब-जब पाण्डव विपत्ति में पड़े, भगवान श्रीकृष्ण ने ही उनकी रक्षा की।

परीक्षित ने लोगों के मुख से यह भी सुना, जब वे अपनी मां के गर्भ में थे तो अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र से उन्हें काल के मुख में पहुंचाने का प्रयत्न किया था। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने ही उनकी रक्षा की थी। फलतः परीक्षित के मन में भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति और प्रेम पैदा हो उठा। वे श्रीकृष्ण को ही अपने जीवन का अवलंब मानकर चलने लगे, जीवन की घड़ियां व्यतीत करने लगे।

रात्रि का समय था। परीक्षित अपने शिविर में सोये हुए थे। दो प्राणियों के

वार्तालाप से उनकी नींद टूट गयी। उन्होंने बाहर निकल कर देखा, एक वृषभ और एक गाय दोनों परस्पर बातचीत में संलग्न हैं। उन्होंने यह भी देखा कि वृषभ का एक ही पैर है और गाय बड़ी सुन्दर है।

परीक्षित शिविर के बाहर खड़े होकर बड़े ध्यान से दोनों की वार्तालाप को सुनने लगे। उन्होंने दोनों के मुख से जो कुछ भी सुना, उससे उनके हृदय में दु:ख पैदा हो उठा। वृषभ धर्म और गाय पृथ्वी थी। दोनों कलियुग के पापों के कारण बड़े दु:खी थे। धर्म लंगड़ा हो गया था और पृथ्वी निस्तेज हो गयी थी।

परीक्षित मन-ही-मन दु:खी होकर सोच-विचार कर ही रहे थे कि उनकी दृष्टि एक पुरुष पर पड़ी, जो हाथ में लोटा-डंडा लिये हुए था। वह वृषभ और गाय के समीप पहुंचा और निर्दयतापूर्वक उन पर डंडे से प्रहार करने लगा।

परीक्षित अपने-आप को रोक नहीं सके। उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ाकर उस पुरुष की ओर देखते हुए क्रोध-भरे स्वर में कहा—तू कौन है और निरपराधों को क्यों डंडे से पीट रहा है? सच-सच बता, नहीं तो मैं अपने शर से तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा।

पुरुष भयभीत हो उठा, कांपने लगा। उसने कांपती हुई वाणी में उत्तर दिया—राजन्, मैं कलियुग हूं। मुझे क्षमा कर दीजिये। मैं आपकी शरण में हूं।

यद्यपि परीक्षित के मन में क्रोध पैदा हो उठा था और उनके मन में उस पुरुष के प्रति घृणा भी पैदा हो उठी थी, किन्तु जब उसने विनय-भरी वाणी में शरणागत होने की बात कही, तो परीक्षित के मन का क्रोध ठंडा हो गया। वीर पुरुष शरणागत होने पर अन्यायी और अधर्मी का भी विनाश नहीं करते।

परीक्षित ने कलियुग को छोड़ दिया। उसे क्षमादान दे दिया। कलियुग पुन: बोला—राजन्, बताइए मैं कहां रहूं; क्योंकि मैं जहां भी रह सकता हूं, आपकी कृपा से ही रह सकता हूं।

परीक्षित ने कलियुग पर कृपा करके उसके निवास के लिए चार स्थान बताये—(1) जुआ, (2) मद्यपान, (3) परस्त्रीगमन, और (4) हिंसा। कलियुग बोला—राजन्, एक स्थान मुझे कोई और बताइये, क्योंकि इन चार स्थानों से मेरे जीवन का निर्वाह नहीं हो सकेगा।

परीक्षित ने कलियुग पर कृपा करके उसे एक स्थान और दिया—सुवर्ण। उन्होंने कहा—तुम सुवर्ण में भी रह सकते हो।

कलियुग बड़ी ही दुष्ट प्रकृति का था। यद्यपि परीक्षित ने उसके साथ उदारता का व्यवहार किया, किन्तु फिर भी वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ सका। वह

शीघ्र ही परीक्षित के उस मुकुट में समाविष्ट हो गया, जो सोने का बना हुआ था।

परीक्षित के हृदय में भगवान श्रीकृष्ण की विमल भक्ति थी। फिर भी उन पर कलियुग का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। कलियुग जब उनके मुकुट में समाविष्ट हो गया, तो उनकी बुद्धि मलिन हो गयी, दूसरे शब्दों में उनके मन में अहंकार पैदा हो गया।

एक बार परीक्षित वन में शिकार खेलने के लिए गये। वन में उन्हें भूख और प्यास लगी। वे समीप में स्थित शमीक ऋषि के आश्रम में गये। संयोग की बात, ऋषि ध्यानावस्थित थे। आश्रम में दूसरा कोई व्यक्ति नहीं था।

परीक्षित ने ऋषि के निकट पहुंचकर उनसे कहा— मुझे प्यास लगी है, कृपया मुझे जल पिलाइये।

किन्तु ऋषि ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उत्तर देते तो किस प्रकार देते? वे तो ध्यानावस्थित थे। कलियुग के प्रभाव से परीक्षित की बुद्धि मलिन हो गयी थी। उन्होंने सोचा, ऋषि जान-बूझकर उत्तर नहीं दे रहे हैं, मेरा अपमान कर रहे हैं।

परीक्षित के मन में क्रोध उत्पन्न हो गया। उन्होंने थोड़ी दूर पर, मरे हुए एक सर्प को बाण की नोक से उठाकर ऋषि के गले में डाल दिया।

परीक्षित के जाने के कुछ देर पश्चात् शमीक ऋषि का पुत्र आश्रम में उपस्थित हुआ। वह बड़ा तेजस्वी और वाणी का सिद्ध था। वह अपने पिता के गले में मृत सांप देख कर बड़ा दुखी हुआ। वह पता लगाने लगा कि यह अधम कार्य किसके द्वारा हुआ है। जब उसे पता चला कि यह निन्दित कार्य हस्तिनापुर के नरेश परीक्षित के द्वारा हुआ है, तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने अपनी अंजलि में पवित्र जल लेकर परीक्षित को श्राप दिया— परीक्षित, तुमने मेरे पिता के गले में मृत सांप डालकर उनका अपमान किया है। तुम्हें इस अपमान का फल भोगना पड़ेगा। आज से सातवें दिन तक्षक तुम्हें डंसेगा, और तुम काल के मुख में चले जाओगे।

परीक्षित के कानों में जब यह समाचार पड़ा, तो वे बड़े दुःखी हुए। वे राज्य, भवन और वैभवों को छोड़कर गंगा के तट पर गये। वे गंगा के तट पर श्री शुकदेव मुनि के द्वारा श्रीमद्भागवत की कथा सुनने लगे। उनका विचार था, श्रीमद्भागवत की कथा सुनने से उन्हें मोक्ष प्राप्त होगा। उधर चारों ओर यह खबर फैल गयी कि ऋषिकुमार के श्राप से परीक्षित को तक्षक सर्प डंसेगा। परीक्षित अपनी सद्गति के लिए श्रीमद्भागवत की कथा सुन रहे हैं। फलतः बहुत-से ऋषि और कथा प्रेमी भी वहां पहुंच गये। गंगा के तट पर कथा सुनने वालों की खासी भीड़ एकत्र हो गयी।

ऋषिकुमार के श्राप से प्रभावित होकर तक्षक परीक्षित को डंसने के लिए

चल पड़ा। यह समाचार ब्रह्मर्षि काश्यप के कानों में भी पड़ा। उन्होंने जब यह सुना कि तक्षक के काटने से परीक्षित की मृत्यु हो जायेगी, तो वे समाकुल हो उठे, क्योंकि परीक्षित महान तेजस्वी, धर्मात्मा और प्रजापालक थे। उन्होंने निश्चय किया कि वे परीक्षित को मरने नहीं देंगे। वे अपने मंत्रविद्या के प्रभाव से तक्षक के विष को दूर कर देंगे।

अतः काश्यप अपने निवास-स्थान से चल पड़े। तक्षक चल पड़ा था परीक्षित को डंसने के लिए। इधर काश्यप चले उन्हें बचाने के लिए। मार्ग में तक्षक और काश्यप दोनों की भेंट हो गयी।

तक्षक ने काश्यप को देखकर उनसे पूछा— विप्रवर, आप कहां जा रहे हैं?

काश्यप ने उत्तर दिया— मैं परीक्षित को जीवनदान देने जा रहा हूं। ऋषिकुमार के श्राप से तक्षक उन्हें डंसने वाला है। जब तक्षक परीक्षित को डंसेगा, तो मैं अपनी मंत्रविद्या के प्रभाव से उसके विष को दूर कर दूंगा। मेरे हाथों में अमृत है। घाव पर हाथ फेरते ही विष का प्रभाव दूर हो जायेगा।

काश्यप के कथन को सुनकर तक्षक के मन में अहंकार पैदा हो उठा। वह गर्व-भरे स्वर में बोल उठा— विप्रवर, मैं ही तक्षक हूं। आप मेरे विष के प्रभाव को दूर नहीं कर सकते। व्यर्थ में अपना अपमान न करायें। अच्छा हो, यहीं से लौट जायें।

काश्यप ने उत्तर दिया— मैं तुम्हारे विष के प्रभाव को दूर कर सकूंगा या नहीं— इस बात का पता तो तब चलेगा, जब तुम परीक्षित को डंसोगे और जब मैं अपना काम करूंगा। तुम्हें मेरे मान और अपमान की चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

यद्यपि काश्यप ने बहुत ही विनीत वाणी में अपनी बात कही थी, पर तक्षक के ऊपर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। वह दर्प-भरे स्वर में बोला— विप्रवर, यदि आपको अपनी विद्या पर इतना ही गर्व है, तो सामने वाले वृक्ष पर परीक्षा कर लीजिए न! मैं अपने विष के प्रभाव से वृक्ष को सुखाए दे रहा हूं, आप अपनी विद्या से उसे हरा-भरा बना दें।

काश्यप ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया— सर्पराज, मैं तर्क-वितर्क और वाद-विवाद में नहीं पड़ता। फिर भी यदि आप कहते हैं, तो मुझे स्वीकार है।

काश्यप के कथन को सुनकर तक्षक वृक्ष की जड़ के पास जा पहुंचा। उसने अपने भीतर का विष वृक्ष की जड़ पर उगल दिया। हरा-भरा वृक्ष देखते ही देखते सूख गया। वृक्ष तो सूख ही गया, उसकी डालों पर रहने वाले पक्षी भी मर गये।

तक्षक गर्व-भरे स्वर में बोला— विप्रवर, देख लिया न मेरे विष का प्रभाव!

मैं इसी प्रकार परीक्षित के प्राणों को भी सुखा दूंगा। आपमें साहस हो, तो पुनः इस वृक्ष को हरा-भरा बना दें।

काश्यप ने कुछ न देकर अपने दाहिने हाथ को वृक्ष की जड़ पर दो-तीन बार फेरा। आश्चर्य, वृक्ष तो पहले की भांति हरा-भरा हो गया, वृक्ष की डालों पर रहने वाले पक्षी भी जीवित हो उठे।

तक्षक का मस्तक काश्यप के समक्ष झुक गया। वह बोला— विप्रवर, मैं हार गया। आप सचमुच मेरे विष के प्रभाव को दूर कर सकते हैं, पर आपसे एक प्रार्थना है।

काश्यप बोले— कहो क्या कहना चाहते हो। जो कहना चाहते हो, हृदय खोल कर कहो।

तक्षक बोला— आप परीक्षित को बचाने के लिए न जाइए। ऋषिकुमार के श्राप को सत्य सिद्ध होने दीजिए। आप इसके बदले में जितना धन चाहें मैं आपको दे सकता हूं।

काश्यप ने उत्तर दिया— सर्पराज, पराजित होने पर मुझे लोभ से जीतना चाहते हो? मैं परीक्षित को इसलिए बचाने नहीं जा रहा हूं कि वे बहुत बड़े राजा है, बल्कि इसलिए बचाने जा रहा हूं कि वे प्रजापालक हैं, प्रतापी हैं और धर्मात्मा हैं।

तक्षक और काश्यप में वार्तालाप हो ही रहा था कि आकाशवाणी हुई— ब्रह्मर्षि काश्यप, परीक्षित के जीवन का अध्याय समाप्त हो चुका है, उन्हें अब इस लोक से जाना ही होगा। अतः आप परीक्षित को बचाने का प्रयत्न न करें। तक्षक को अपना काम करने दें। आकाशवाणी को सुनकर काश्यप उसी जगह से लौट गये। तक्षक ने गंगा तट पर जाकर ठीक सातवें दिन परीक्षित को डंस लिया। विष के प्रभाव से परीक्षित ने शरीर छोड़ दिया। वे इस लोक से अपने लोक में चले गये। वे तो चले गए, किन्तु यह बात सदा-सदा के लिए छोड़ गये— मनुष्य को कोई काम करने के पहले भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए। कलियुग में बड़े-से-बड़े महात्माओं की बुद्धि भी मलिन हो जाती है। कलियुग में भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सुख प्राप्त हो सकता है और श्रीमद्भागवत की कथा सुनने से ही कष्टों से मुक्ति मिल सकता है।

श्राप का दंड

(कर्तव्यपालन में भी उचित और अनुचित पर विचार करना चाहिए।)

दोपहर के पूर्व का समय था। वैकुंठ लोक में भगवान विष्णु के द्वार पर दो प्रहरी पहरा देने के उद्देश्य से खड़े थे। उन प्रहरियों में एक का नाम जय और दूसरे का नाम विजय था। जो भी भगवान विष्णु से मिलने के लिए जाता था, उसे उन प्रहरियों से अनुमति लेनी पड़ती थी। स्वयं भगवान विष्णु का आदेश था, कोई भी अनुमति के बिना भीतर प्रवेश न करने पाये।

जय और विजय दोनों बड़ी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया करते थे। दूसरों की तो बात ही क्या, स्वयं रमा को भी वे भीतर जाने से रोक देते थे। एक बार रोके जाने पर रमा ने क्रुद्ध होकर उन्हें अभिशाप तक दे दिया था, किन्तु फिर भी वे अपने कर्तव्यपालन में ढिलाई नहीं करते थे।

संयोग की बात, सनकादि मुनि भी भ्रमण करते हुए भगवान विष्णु के दर्शनार्थ द्वार पर जा पहुंचे। सनकादि मुनि बहुत बड़े भक्त और ज्ञानी थे। वे प्राणियों का कल्याण करने के उद्देश्य से तीनों लोकों में भ्रमण किया करते थे। वे जहां भी जाते थे, मोह और आसक्ति के बन्धनों से छुड़ाने के लिए ज्ञानोपदेश किया करते थे।

सनकादि मुनि छः द्वारों को लांघते हुए भीतर चले गये। जब सातवें द्वार के भीतर प्रविष्ट होने लगे, तो द्वार पर खड़े हुए जय और विजय ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने कहा– अनुमति के बिना भीतर प्रवेश करना निषिद्ध है।

सनकादि मुनि रुक गये। उन्होंने जय और विजय की ओर देखते हुए कहा– हमारे लिए भी निषिद्ध है! हम भगवान के अनन्य भक्त और प्रेमियों में हैं।

जय और विजय ने उत्तर दिया– आप कोई भी हों, अनुमति के बिना भीतर नहीं जा सकते। स्वयं भगवान का ही आदेश है कि बिना अनुमति किसी को भीतर न आने दो। स्वयं रमा को भी इस नियम का पालन करना पड़ता है।

यद्यपि जय और विजय ने नियम का पालन किया था, किन्तु सनकादि मुनि

ने उस नियमपालन से अपने अपमान का अनुभव किया। वे क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने जय और विजय की ओर देखते हुए कहा— यह विष्णुलोक है। विष्णुलोक में वे विष्णु भगवान रहते हैं जो भेदों से परे हैं, जो प्रेम के प्रतिरूप हैं। इस लोक में जो भी प्राणी रहता है उसके हृदय में भेदों का विकार नहीं रहता। वह सम होता है, एक रूप होता है। तुम दोनों वैकुंठ लोक में रहने के योग्य नहीं हो, क्योंकि तुम्हारे हृदय में भेदों का विकार है। हम तुम दोनों को श्राप दे रहे हैं कि दैत्य लोक में जाकर जन्म लो।

सनकादि मुनि के श्राप को सुनकर जय और विजय दोनों बड़े दुःखी हुए। दोनों ने विनीत वाणी में निवेदन किया— मुने, हमने जो कुछ किया, अपने कर्तव्य-पालन के लिए किया। किन्तु फिर भी हम आपके श्राप को स्वीकार कर रहे हैं, पर आप हम पर कृपा करें। हमें कोई ऐसा उपाय बताइये, जिसके द्वारा हम पुनः वैकुंठ लोक में श्री हरि के निकट आ सकें।

दोनों प्रहरियों और सनकादि मुनि में वार्तालाप हो ही रहा था कि स्वयं भगवान विष्णु वहां उपस्थित हुए। उन्हें जब पता चला कि उनके पार्षदों ने सनकादि मुनि को द्वार पर रोक दिया है, तो वे स्वयं वहां जा पहुंचे। सनकादि मुनि ने भगवान को विनीततापूर्वक प्रणाम किया।

भगवान विष्णु ने सनकादि मुनि के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कहा— श्रेष्ठ मुनि, आपने मेरे पार्षदों को श्राप का दंड देकर अच्छा किया है। मेरे पार्षदों ने आपका अपमान करके अच्छा नहीं किया। आपका अपमान मेरा अपमान है।

भगवान विष्णु की नम्रता और विनीतता ने सनकादि मुनि के हृदय में आनन्द का सागर उंडेल दिया। उन्होंने परमानंदित होकर कहा— भगवन्, आप धन्य हैं। आप अपनी नम्रता और विनीतता से ही महान हैं। आप भेदों से परे हैं, विकार से रहित हैं, प्रेम के समुद्र हैं। हम आपके दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गये हैं।

सनकादि मुनि जब भगवान विष्णु की अभिवन्दना करके चले गये, तो भगवान ने अपने पार्षदों की ओर देखते हुए कहा— तुम दोनों चिन्ता मत करो। इसके पूर्व लक्ष्मीजी भी तुम दोनों को श्राप दे चुकी हैं। जाओ, दैत्य वंश में जन्म लो। कुछ दिनों के पश्चात् पुनः मेरे पास आ जाओगे। वैकुंठनाथ के आश्वासन देने पर दोनों के मन का दुःख दूर हो गया। दोनों वैकुंठ लोक को छोड़कर असुरों के लोक में चले गये।

उन दिनों एक बहुत बड़े ऋषि थे, उनका नाम था कश्यप। कश्यप की दो पत्नियां थीं— दिति और अदिति। दिति स्वभाव की बड़ी चंचला थी, किन्तु अदिति

शान्त, मृदुला और क्षमाशीला थी।

संध्या का समय था। कश्यप संध्यावंदन के लिए कुशासन पर उपविष्ट थे। दिति ने ऋषि के पास पहुंच कर उनका हाथ पकड़ लिया। वह उन्हें कुशासन से उठाती हुई बोली— मेरा मन चंचल हो उठा है। आप मेरे पति हैं, आप मेरे मन की चंचलता को शान्त कीजिये।

ऋषि ने कुशासन से उठते हुए उत्तर में कहा— दिति, तुम्हारे मन की चंचलता तो शान्त हो जायेगी, किन्तु तुम्हारे गर्भ से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह दैत्य होगी।

ऋषि का कथन सत्य हुआ। समय पर दिति के गर्भ से दो जुड़वां बालक पैदा हुए जो पैदा होते ही दैत्यों की भांति बड़े हो गये। दिति के वे ही दोनों दैत्यपुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनों में बड़ा भाई जय और छोटा विजय था। भगवान के हाथों द्वारा मारे जाने के कारण दोनों वैकुंठ लोक में गये और भगवान के द्वार के पार्षद हुए।

जय और विजय की कथा हमें यह बताती है कि कर्तव्य का पालन करते हुए हमें उचित और अनुचित पर विचार करना चाहिए।

हिरण्याक्ष-वध

(जीव को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।)

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ने जब दिति के गर्भ से जुड़वां रूप में जन्म लिया, तो धरती कांप उठी। आकाश में तारे इधर से उधर दौड़ने लगे, समुद्र में बड़ी-बड़ी लहरें पैदा हो उठीं और प्रलयकारी हवा चलने लगी। ऐसा ज्ञात हुआ, मानो प्रलय आ गया हो।

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों पैदा होते ही बड़े बन गये। दैत्यों के बालक पैदा होते ही बड़े बन जाते हैं और अपने अत्याचारों से धरती को कंपाने लगते हैं। यद्यपि हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों बलवान थे, किन्तु फिर भी उन्हें संतोष नहीं था। वे संसार में अजेयता और अमरता प्राप्त करना चाहते थे।

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए बहुत बड़ा तप किया। उनके तप से ब्रह्मा जी प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रकट होकर कहा— तुम्हारे तप पर मैं प्रसन्न हूं। वर मांगो, क्या चाहते हो?

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ने उत्तर दिया— प्रभो, हमें ऐसा वर दीजिए, जिससे न तो कोई युद्ध में हमें पराजित कर सके और न कोई मार सके।

ब्रह्मा जी 'तथास्तु' कहकर अपने लोक में चले गये।

ब्रह्मा जी से अजेयता और अमरता का वरदान पाकर हिरण्याक्ष उद्दंड और स्वेच्छाचारी बन गया। वह तीनों लोकों में अपने को सर्वश्रेष्ठ मानने लगा। दूसरों की तो बात ही क्या, वह स्वयं विष्णु भगवान को भी अपने समक्ष तुच्छ मानने लगा।

हिरण्याक्ष ने गर्वित होकर तीनों लोकों को जीतने का विचार किया। वह हाथ में गदा लेकर इन्द्रलोक में जा पहुंचा। देवताओं को जब उसके पहुंचने की खबर मिली, तो वे भयभीत होकर इन्द्रलोक से भाग गये। देखते-ही-देखते समस्त इन्द्रलोक पर हिरण्याक्ष का अधिकार स्थापित हो गया।

जब इन्द्रलोक में युद्ध करने कोई नहीं मिला, तो हिरण्याक्ष वरुण की राजधानी विभावरी नगरी में जा पहुंचा। उसने वरुण के समक्ष उपस्थित होकर

कहा—वरुण देव, आपने दैत्यों को पराजित करके राजसूय यज्ञ किया था। आज आपको मुझे पराजित करना पड़ेगा। कमर कस कर तैयार हो जाइए, मेरी युद्ध की पिपासा को शान्त कीजिए।

हिरण्याक्ष के कथन को सुनकर वरुण के मन में रोष तो उत्पन्न हुआ, किन्तु उन्होंने भीतर-ही-भीतर उसे दबा दिया। वे बड़े शान्त भाव से बोले—तुम महान योद्धा और शूरवीर हो। तुमसे युद्ध करने के लिए मेरे पास शौर्य कहां? तीनों लोकों में भगवान विष्णु को छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं है, जो तुमसे युद्ध कर सके। अत: तुम उन्हीं के पास जाओ। वे ही तुम्हारी युद्ध की पिपासा को शान्त करेंगे।

वरुण के कथन को सुनकर हिरण्याक्ष भगवान विष्णु की खोज में समुद्र के नीचे रसातल में जा पहुंचा। रसातल में पहुंच कर उसने एक विस्मयजनक दृश्य देखा। उसने देखा, एक वाराह अपने दांतों के ऊपर धरती को उठाये हुए चला जा रहा है। वह मन-ही-मन सोचने लगा, यह वाराह कौन है? कोई भी साधारण वाराह धरती को अपने दांतों के ऊपर नहीं उठा सकता। अवश्य, यह वाराह के रूप में भगवान विष्णु ही हैं, क्योंकि वे ही देवताओं के कल्याण के लिए माया का नाटक करते फिरते हैं।

हिरण्याक्ष वाराह को लक्ष्य करके बोल उठा—तुम अवश्य भगवान विष्णु ही हो। धरती को रसातल से कहां लिये जा रहे हैं? यह धरती तो दैत्यों के उपभोग की वस्तु है। इसे रख दो। तुम अनेक बार देवताओं के कल्याण के लिए दैत्यों को छल चुके हो। आज तुम मुझे छल नहीं सकोगे। आज मैं पुराने वैर का बदला तुमसे चुका कर रहूंगा।

यद्यपि हिरण्याक्ष ने अपनी कटु वाणी से गहरी चोट की थी, किन्तु फिर भी भगवान विष्णु शान्त ही रहे। उनके मन में रंचमात्र क्रोध नहीं पैदा हुआ। वे वाराह के रूप में अपने दांतों पर धरती को लिये हुए आगे बढ़ते रहे, आगे बढ़ते रहे।

हिरण्याक्ष भगवान वाराह रूप विष्णु के पीछे लग गया। वह कभी उन्हें निर्लज्ज कहता, कभी कायर कहता और कभी मायावी कहता, पर भगवान विष्णु केवल मुस्करा कर रह जाते। उन्होंने रसातल से बाहर निकल कर धरती को समुद्र के ऊपर स्थापित कर दिया। हिरण्याक्ष उनके पीछे लगा हुआ था। अपने वचन-बाणों से उनके हृदय को बेंध रहा था।

भगवान विष्णु ने धरती को स्थापित करने के पश्चात् हिरण्याक्ष की ओर ध्यान दिया। उन्होंने हिरण्याक्ष की ओर देखते हुआ कहा—तुम तो बड़े बलवान हो। बलवान लोग कहते नहीं हैं, करके दिखाते हैं। तुम तो केवल प्रलाप कर रहे हो।

पश्चात् कहा— महाराज मनु, आपने मेरे आश्रम में किस हेतु आने की अनुकंपा की है?

मनु ने उत्तर दिया— महामुने, आपके गुणों और आपकी विशेषताओं को सुनकर मेरी पुत्री देवहूति ने आपको पति रूप में वरण किया है। हम उसे आपके चरणों तक पहुंचाने के लिए ही आपके आश्रम में आये हुए हैं।

कर्दम मुनि को श्री हरि का कथन स्मरण हो आया— जिसने आपको पति के रूप में वरण किया है, वह एक दिन अपनेआप ही आपके पास आयेगी और आप उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करेंगे।

कर्दम मुनि ने एक बार देवहूति की ओर देखा। वह सिर झुकाये हुए बैठी हुई थी। ऐसा लग रहा था, मानो दूसरी पृथ्वी हो। कर्दम का मन मुग्ध हो उठा। उन्होंने मनु की ओर देखते हुए कहा— महाराज मनु, मुझे आपकी पुत्री का समर्पण स्वीकार है।

मनु अपनी पुत्री देवहूति को कर्दम के आश्रम में छोड़ कर अपनी पत्नी शतरूपा के साथ चले गये। कर्दम देवहूति के साथ विवाह करके जीवन व्यतीत करने लगे।

एक-एक करके देवहूति के गर्भ से नौ कन्याओं ने जन्म लिया। कर्दम का आश्रम चहल-पहल से भर गया। उनके मन में विरक्ति पैदा हो उठी। वे वन में जाने और संन्यास लेने के लिए उद्यत हो उठे। देवहूति ने अवसर पाकर निवेदन किया— स्वामी, आप तो वन में जा रहे हैं। इन कन्याओं की देख रेख कौन करेगा? कौन इनके लिए वर खोजेगा? पति ही नारी का सुख और सौभाग्य होता है। आपके चले जाने पर मैं अकेले अपने जीवन की नाव कैसे चला सकूंगी?

कर्दम मुनि ने उत्तर दिया— देवहूति, तुम साधारण स्त्री नहीं हो, तुम स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ हो। वह समय निकट आ रहा है, जब स्वयं श्री हरि तुम्हारी गोद में अवतरित होंगे। उनका नाम होगा, कपिल। वे तुम्हें ज्ञान का अमृत पिलाकर तुम्हारे जीवन को धन्य बना देंगे। मैं तब तक संन्यास नहीं लूंगा, जब तक श्री हरि तुम्हारी गोद में नहीं आ जाते।

कर्दम मुनि ने देवहूति को धैर्य बंधाकर, उसे ज्ञान देने का निश्चय किया। उन्होंने अपने योग की शक्ति से एक विमान को प्रकट किया और देवहूति की ओर देखते हुए हुआ— देवहूति, मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे रहा हूं। तुम मेरे साथ इस विमान पर बैठो। चलो तुम्हें लोक-लोकों की सैर करायें।

देवहूति ने कर्दम की आज्ञा का पालन किया। वह विमान पर जा बैठी।

विमान उड़ चला। देवहूति कर्दम की दी हुई दिव्य दृष्टि से लोक-लोकों के अनुपम दृश्यों को देखने लगी। उसने ऐसे दृश्य कभी नहीं देखे थे।

देवहूति जब लोक-लोकों की सैर करने के पश्चात् लौटी, तो कर्दम ने मृदु वाणी में उससे कहा— देवहूति, तुमने जो कुछ देखा है वह स्वप्न के सदृश है। जिस प्रकार स्वप्न देखते-ही-देखते लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार ये सभी लोक-लोकादि भी एक दिन नष्ट हो जायेंगे। यदि कुछ नष्ट नहीं होगा, तो वह है श्री हरि का प्रेम और उनका भजन। अत: तुम्हें समस्त चिन्ताओं को छोड़कर श्री हरि के भजन और उनकी आराधना में ही अपना समय बिताना चाहिए।

देवहूति का मन बदल गया। वह श्री हरि के अनुराग में डूबकर जीवन बिताने लगी। आखिर, वह दिन आया, जब भगवान श्री हरि ने कपिल के रूप में देवहूति की गोद में जन्म धारण किया।

श्री हरि के जन्म-धारण के पश्चात् कर्दम संन्यास लेकर वन में चले गये, श्री हरि के तप और जप में जीवन व्यतीत करने लगे।

श्री हरि ने कपिल के रूप में जन्म लेकर छोटी वय में ही वन में जाने का निश्चय किया। उन्होंने वन में जाने के पूर्व अपनी मां को उपदेशित किया। उन्होंने कहा— आसक्ति का दूसरा नाम दु:ख है। मन में जितनी ही अधिक आसक्ति और जितना ही अधिक मोह होता है, उतना ही अधिक दु:ख प्राप्त होता है। अत: आसक्ति और मोह को मन से निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

संसार में सुख और शान्ति का एक ही मार्ग है— श्री हरि के चरणों का अनुराग। श्री हरि के चरणों में जितना ही अधिक अनुराग होता है, उतना ही अधिक सुख और उतनी ही अधिक शान्ति प्राप्त होती है।

कपिल भगवान अपनी मां को ज्ञान का अमृत पिलाकर उस स्थान पर चले गये, जहां आज बंगाल की खाड़ी और समुद्र का संगम है। भगवान कपिल वहीं समाधिस्थ हो गये। जिस प्रकार सूर्य की किरणें चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार भगवान कपिल के ज्ञान की किरणें चारों ओर फैलने लगीं। युग बीत गये हैं, पर भगवान कपिल के ज्ञान की किरणें आज भी जन-जन के हृदय में प्रकाश पैदा कर रही हैं। इसी प्रकार युगों तक प्रकाश पैदा करती रहेंगी, प्रकाश पैदा करती रहेंगी।

सती का शरीर-त्याग

(शाश्वत शक्ति का विनाश कभी नहीं होता।)

दक्ष प्रजापति की कई पुत्रियां थीं। सभी पुत्रियां गुणवती थीं, धर्मव्रती थीं और सुन्दर स्वभाव वाली थीं; पर दक्ष के मन में संतोष नहीं था, सुख नहीं था। वे चाहते थे, उनके घर में एक ऐसी पुत्री का जन्म हो, जो शक्ति-सम्पन्न हो। सर्वविजयिनी हो। दक्ष एक ऐसी पुत्री के लिए तप करने लगे।

जब तप करते-करते अधिक दिन बीत गये, तो भगवती आद्या ने प्रकट होकर कहा— मैं तप से प्रसन्न हूं। मैं स्वयं पुत्री के रूप में जन्म धारण करूंगी। मेरा नाम होगा सती। मैं सती के रूप में जन्म लेकर अपनी लीलाओं का विस्तार करूंगी।

फलत: भगवती आद्या ने सती के रूप में दक्ष के घर में जन्म लिया। सती दक्ष की सभी पुत्रियों में अलौकिक थीं। गुणवती और तेजस्विनी तो थी ही, अतीव शक्तिसम्पन्ना भी थीं। उन्होंने वाल्यावस्था में ही कई ऐसे अलौकिक कृत्य कर दिखाये थे, जिन्हें देखकर स्वयं दक्ष को भी विस्मय की लहरों में डूब जाना पड़ा था।

सती जब विवाह के योग्य हुईं, तो दक्ष को उनके लिए वर की चिन्ता हुई। उन्होंने ब्रह्मा जी से परामर्श किया। ब्रह्मा ने कहा— सती आद्या का अवतार हैं। आद्या आदि शक्ति और शिव आदि पुरुष हैं। अत: सती के विवाह के लिए शिव ही योग्य और उचित वर हैं।

दक्ष ने ब्रह्मा की बात को मानकर सती का विवाह भगवान शिव के साथ कर दिया। सती कैलाश में जाकर भगवान शिव के साथ रहने लगीं, अपनी आनन्दमयी लीलाएं करने लगीं।

यद्यपि भगवान शिव दक्ष के जामाता थे, किन्तु एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण दक्ष के हृदय में भगवान शिव के प्रति वैर और विरोध पैदा हो गया। घटना इस प्रकार थी—

एक बार ब्रह्मा जी ने धर्म के निरूपण के लिए एक सभा का आयोजन किया था। सभी बड़े-बड़े देवता सभा में एकत्र थे। भगवान शिव भी एक ओर बैठे हुए थे। सभामंडल में दक्ष का भी आगमन हुआ। दक्ष के आगमन पर सभी देवता उठकर खड़े हो गये, पर भगवान शिव खड़े नहीं हुए। उन्होंने दक्ष को प्रणाम भी नहीं किया।

फलतः दक्ष ने अपमान का अनुभव किया। केवल यही नहीं, उनके हृदय में भगवान शिव के प्रति ईर्ष्या की आग जल उठी। वे उनसे बदला लेने के लिए समय और अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

भगवान शिव को किसी के मान और किसी के अपमान से क्या मतलब? वे तो समदर्शी हैं। उन्हें तो चारों ओर अमृत ही अमृत दिखायी पड़ता है। जहां अमृत होता है, वहां कड़ुआहट और कसैलेपन का क्या काम है?

भगवान शिव कैलाश में दिन-रात राम-राम कहा करते थे। सती के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो उठी। उन्होंने अवसर पाकर भगवान शिव से प्रश्न किया— आप राम-राम क्यों कहते हैं? राम कौन हैं?

भगवान शिव ने उत्तर दिया— राम आदि पुरुष हैं, स्वयंभू हैं, मेरे आराध्य हैं। सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं। अयोध्या के नृपति दशरथ के पुत्र राम के रूप में उनका अवतार हुआ है। सीता उनकी सहधर्मिणी हैं।

किन्तु सती के कंठ के नीचे बात उतरी नहीं। वे सोचने लगीं, अयोध्या के नृपति दशरथ के पुत्र राम आदि पुरुष के अवतार कैसे हो सकते हैं? वे तो आजकल अपनी पत्नी सीता जी के वियोग में दंडक वन में उन्मत्तों की भांति विचरण कर रहे हैं। वृक्षों और लताओं से उनका पता पूछते फिर रहे हैं। यदि वे आदि पुरुष के अवतार होते, तो क्या इस प्रकार का आचरण करते?

सती के मन में राम की परीक्षा लेने का विचार उत्पन्न हुआ। वे सीता का रूप धारण करके दंडक वन में जा पहुंचीं और राम के सामने प्रकट हुईं।

भगवान राम ने सती को सीता के रूप में देखकर कहा— माता, आप एकाकिनी यहां वन में कहां घूम रही हैं? बाबा विश्वनाथ कहां हैं?

राम के प्रश्न को सुनकर सती से कुछ उत्तर देते नहीं बना। वे अदृश्य हो गयीं और मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगीं कि उन्होंने व्यर्थ ही राम पर सन्देह किया। राम सचमुच आदि पुरुष के अवतार हैं, इन्द्रियों से परे हैं।

सती जब लौट कर कैलाश गईं, तो भगवान शिव ने उन्हें देखते ही कहा— सती, तुमने सीता के रूप में राम की परीक्षा लेकर अच्छा नहीं किया। सीता

मेरी आराध्या हैं। अब तुम मेरी अर्धांगिनी कैसे रह सकती हो! इस जन्म में हम और तुम पति और पत्नी के रूप में नहीं मिल सकते।

शिव जी के कथन को सुनकर सती अत्यधिक दुःखी हुईं, पर अब क्या हो सकता था? शिव जी के मुख से निकली हुई बात असत्य कैसे हो सकती थी?

शिव जी समाधिस्थ हो गये। सती दुःख और पश्चात्ताप की लहरों में डूबने और उतराने लगीं।

उन्हीं दिनों सती के पिता कनखल में बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने यज्ञ में सभी देवताओं और मुनियों को आमंत्रित किया था, किन्तु शिव जी को आमंत्रित नहीं किया था; क्योंकि उनके मन में शिव जी के प्रति ईर्ष्या थी, वैर था।

सती को जब यह ज्ञात हुआ कि उनके पिता ने बहुत बड़े यज्ञ की रचना की है, तो उनका मन यज्ञ के समारोह में सम्मिलित होने के लिए आकुलित हो उठा। शिव जी समाधिस्थ थे। अतः वे शिव जी से अनुमति लिये बिना ही वीरभद्र के साथ अपने पिता के घर चली गयीं।

कहीं-कहीं सती के पितगृह जाने की घटना का वर्णन एक दूसरे रूप में इस प्रकार मिलता है—एक बार सती और शिव कैलाश पर्वत पर बैठे हुए परस्पर वार्तालाप कर रहे थे। उसी समय आकाश-मार्ग से कई विमान कनखल की ओर जाते हुए दिखायी पड़े। सती ने उन विमानों को देखकर भगवान शिव से पूछा—प्रभो, ये सभी विमान किसके हैं और कहां जा रहे हैं?

भगवान शंकर ने उत्तर दिया—आपके पिता ने यज्ञ की रचना की है। देवता और देवांगनाएं इन विमानों में बैठ कर उसी यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जा रहे हैं।

सती ने दूसरा प्रश्न किया—क्या मेरे पिता ने आपको यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए नहीं बुलाया है?

भगवान शंकर ने उत्तर दिया—आपके पिता मुझसे वैर रखते हैं, फिर वे मुझे क्यों बुलाने लगे?

सती मन-ही-मन सोचने लगीं। कुछ क्षणों तक सोचती रहीं, फिर बोलीं—यज्ञ के अवसर पर अवश्य मेरी बहनें आयेंगी। उनसे मिले हुए बहुत दिन हो गये। यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं भी अपने पिता के घर जाना चाहती हूं। यज्ञ में सम्मिलित हो लूंगी और बहनों से भी मिलने का सुअवसर मिलेगा।

भगवान शिव ने उत्तर दिया—इस समय वहां जाना उचित नहीं होगा। आपके पिता मुझसे जलते हैं; हो सकता है, वे आपका भी अपमान करें। बिना बुलाये

किसी के घर जाना उचित नहीं होता।

सती ने सोचते हुए कहा—क्या पिता के घर भी जाना उचित नहीं होता?

भगवान शिव ने उत्तर दिया—हां, विवाहिता लड़की को बिना बुलाये पिता के घर भी नहीं जाना चाहिए, क्योंकि विवाह हो जाने पर लड़की अपने पति की हो जाती है। पिता के घर से उसका सम्बन्ध टूट जाता है।

किन्तु सती पीहर जाने के लिए हठ करती रहीं। अपनी बात बार-बार दोहराती रहीं। उनकी इच्छा को देखकर भगवान शिव ने उन्हें पीहर जाने की अनुमति दे दी। उनके साथ अपना एक गण भी कर दिया। उस गण का नाम वीरभद्र था।

सती वीरभद्र के साथ अपने पिता के घर गयीं; किन्तु उनसे किसी ने भी प्रेमपूर्वक वार्तालाप नहीं किया। न तो उनकी बहनों ने किया, न उनकी मां ने किया।

दक्ष ने उन्हें देखकर कहा—तुम क्या यहां मेरा अपमान कराने आयी हो? अपनी बहनों को तो देखो, वे किस प्रकार भांति-भांति के अलंकारों और सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जिता हैं। तुम्हारे शरीर पर मात्र बाघाम्बर है। तुम्हारा पति श्मशानवासी और भूतों का नायक है। वह तुम्हें बाघाम्बर को छोड़कर और पहना ही क्या सकता है?

दक्ष के कथन से सती के हृदय में पश्चात्ताप का सागर उमड़ उठा। वे सोचने लगीं, उन्होंने यहां आकर अच्छा नहीं किया। भगवान ठीक ही कह रहे थे, बिना बुलाये पिता के घर भी नहीं जाना चाहिए। पर अब क्या हो सकता है? अब तो आ ही गयी हैं।

पिता के कटु और अपमानजनक शब्दों को सुन करके भी सती मौन रहीं। वे उस यज्ञमंडल में गयीं जहां सभी देवता और ऋषि-मुनि बैठे हुए थे तथा यज्ञकुंड में धू-धू करती जलती हुई अग्नि में आहुतियां डाली जा रही थीं।

सती ने यज्ञमंडप में सभी देवताओं के तो भाग देखे, किन्तु भगवान शिव का भाग नहीं देखा। वे भगवान शिव का भाग न देखकर अपने पिता से बोलीं—पितृश्रेष्ठ, यज्ञ में तो सबके भाग दिखायी पड़ रहे हैं, किन्तु कैलाशपति का भाग नहीं है। आपने उनका भाग क्यों नहीं दिया?

दक्ष ने गर्व से उत्तर दिया—मैं तुम्हारे पति कैलाशपति को देवता नहीं समझता। वह तो भूतों का स्वामी, नग्न रहने वाला और हड्डियों की माला को धारण करने वाला है। वह देवताओं की पंक्ति में बैठने योग्य नहीं है। उसे कौन भाग देगा!

सती के नेत्र लाल हो उठे। उनकी भौंहें कुटिल हो गयीं। उनका मुखमंडल

प्रलय के सूर्य की भांति तेजोद्दीप्त हो उठा। उन्होंने पीड़ा से तिलमिलाते हुए कहा—ओह, मैं इन शब्दों को कैसे सुन रही हूं, मुझे धिक्कार है, कोटि-कोटि बार धिक्कार है। देवताओ! तुम्हें भी धिक्कार है, कोटि-कोटि बार धिक्कार है। तुम भी उन कैलाशपति के लिए इन शब्दों को कैसे सुन रहे हो, जो मंगल के प्रतीक हैं और जो क्षणमात्र में सम्पूर्ण सृष्टि को नष्ट करने की शक्ति रखते हैं। वे मेरे स्वामी हैं। मेरे सर्वस्व हैं। नारी के लिए उसका पति ही स्वर्ग होता है। जो नारी अपने पति के लिए अपमानजनक शब्दों को सुनती है, उसे नरक में जाना पड़ता है। पृथ्वी सुनो, आकाश सुनो और देवताओ, तुम भी सुनो! मेरे पिता ने मेरे स्वामी का अपमान किया है। मैं अब एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहती।

सती अपने कथन को समाप्त करती हुई यज्ञ के कुंड में कूद पड़ीं। जलती हुई आहुतियों के साथ उनका शरीर भी जलने लगा और जलने लगा।

यज्ञमंडप में खलबली पैदा हो गयी, हाहाकार मच गया। देवता उठकर खड़े हो गये, ऋषि और मुनि भी उठकर खड़े हो गये। वीरभद्र क्रोध से कांप उठे। वे उछल-उछलकर यज्ञ का विध्वंस करने लगे। यज्ञमंडप में भगदड़ मच गयी। देवता और ऋषि-मुनि भाग खड़े हुए। वीरभद्र ने देखते-ही-देखते दक्ष का मस्तक काटकर फेंक दिया।

समाचार भगवान शिव के कानों में पड़ा। वे प्रचंड आंधी की भांति कनखल जा पहुंचे।

सती के जले हुए शरीर को देखकर भगवान शिव अपनेआप को भूल गये। सती के प्रेम और उनकी भक्ति ने शंकर के मन को व्याकुल कर दिया। उन शंकर के मन को व्याकुल कर दिया, जिन्होंने काम पर भी विजय प्राप्त की थी और जो सारी सृष्टि को नष्ट करने की क्षमता रखते थे। वे सती के प्रेम में खो गये, बेसुध हो गये।

भगवान शिव ने उन्मत्त की भांति सती के जले हुए शरीर को कंधे पर रख लिया। वे आठों दिशाओं में भ्रमण करने लगे। शिव और सती के इस अलौकिक प्रेम को देखकर पृथ्वी रुक गयी, हवा रुक गयी, जल का प्रवाह रुक गया और रुक गयीं देवताओं की सांसें। सृष्टि व्याकुल हो उठी, सृष्टि के प्राणी पुकारने लगे—पाहिमाम्, पाहिमाम्।

भयानक संकट को उपस्थित देखकर सृष्टि के पालक भगवान विष्णु आगे बढ़े। वे भगवान शिव की बेसुधी में, अपने चक्र से सती के एक-एक अंग को काट-काट कर गिराने लगे। धरती पर इक्यावन स्थानों में सती के अंग कट-कट कर गिरे।

जब सती के सारे अंग कट-कटकर गिर गये, तो भगवान शिव पुनः अपने-

आप में आये। जब वे अपने-आप में आये, तो पुनः सृष्टि के सारे कार्य चलने लगे, अपने-आप ही होने लगे।

धरती पर जिन इक्यावन स्थानों में सती के अंग कट-कटकर गिरे थे, वे ही स्थान आज शक्ति के पीठ-स्थान माने जाते हैं। आज भी उन स्थानों में सती की पूजा होती है, उपासना होती है। धन्य था शिव और सती का प्रेम। शिव और सती के प्रेम ने उन्हें अमर बना दिया है, वन्दनीय बना दिया है।

ध्रुवलोक की प्राप्ति

(मन की दृढ़ता और लगन से ही सफलता प्राप्त होती है।)

स्वयंभू मनु के पुत्र उत्तानपाद की दो रानियां थीं— सुरुचि और सुनीति। उत्तानपाद की सुरुचि में आसक्ति अधिक थी। फिर भी सुनीति बुरा नहीं मानती थी। वह अपने कर्तव्य का पालन बड़ी ही श्रद्धा और बड़े ही प्रेम के साथ करती थी। वह उदार और धार्मिक विचारों की श्रेष्ठ महिला थी।

सुरुचि और सुनीति—दोनों के एक-एक पुत्र था। सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम और सुनीति के पुत्र का नाम ध्रुव था। दोनों पुत्रों की समान वय थी— लगभग 5 या 6 वर्ष की। उत्तम सुरुचि के गर्भ से पैदा हुआ था, इसलिए वह उत्तानपाद को अधिक प्रिय था।

सन्ध्या के पश्चात् का समय था। उत्तानपद सुरुचि के राजभवन में था, सुरुचि से मधुरालाप कर रहा था। उत्तम उसकी गोद में था।

संयोग की बात ध्रुव भी घूमते-घूमते अपने पिता के पास जा पहुंचे। उत्तम को पिता की गोद में बैठा हुआ देखकर, वे भी गोद में बैठने का प्रयत्न करने लगे, पर सुरुचि ने उन्हें बैठने नहीं दिया। उसने उनका हाथ पकड़ कर खींचते हुए कहा— तुम महाराज की गोद में नहीं बैठ सकते। यदि तुम महाराज की गोद में बैठना चाहते हो तो तप के द्वारा श्री हरि को प्रसन्न करके उनसे मेरे गर्भ से उत्पन्न होने का वर प्राप्त करो। मेरे गर्भ से उत्पन्न होने पर ही तुम महाराज की गोद में बैठ सकते हो।

ध्रुव विमाता के कटु वचन और व्यवहार से सिसक-सिसक कर रोने लगे, किन्तु फिर भी उत्तानपाद मौन ही रहा। उसने न तो ध्रुव को सान्त्वना दी और न रानी को फटकार ही लगायी! मनुष्य जब मोह से ग्रसित हो जाता है, तो उसमें उचित और अनुचित के निर्णय का विवेक नहीं रह जाता।

पिता से भी प्यार न पाने पर ध्रुव रोते हुए अपनी मां के पास गये। सुनीति ने जब रोने का कारण पूछा तो ध्रुव ने पूरी घटना कह सुनायी।

सुनीति ने ध्रुव को सांत्वना प्रदान करते हुए कहा— बेटा, जिस तरह मैं तुम्हारी मां हूं, उसी तरह सुरुचि भी तुम्हारी मां है। तुम उनके प्रति अपने मन में बुरे भाव मत लाना। यदि कोई मनुष्य बुरा बर्ताव करे तो भी उसके साथ अच्छा ही बर्ताव करना चाहिए। उत्तम मनुष्य का यही लक्षण है। तुम्हारी मां सुरुचि ने ठीक ही कहा है। तुम्हें भी हरि को प्रसन्न करने के लिए उनका तप करना चाहिए। मनुष्य के जीवन का यही सबसे बड़ा धर्म है। जो मनुष्य श्री हरि के चरणों में अनुराग नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ होता है। जगत में श्री हरि के चरणों के अनुराग को छोड़कर सब कुछ मिथ्या है, असत्य है।

ध्रुव को अपनी मां के वचनों से अत्यधिक उत्साह मिला, अत्यधिक प्रेरणा मिली। वे माता, पिता और सम्बन्धियों के प्रेम को छोड़कर वन की ओर चल दिये। उस समय उनकी आयु केवल 5 या 6 वर्ष की थी।

मार्ग में ध्रुव की देवर्षि नारद से भेंट हुई। नारद के पूछने पर उन्होंने सब कुछ बता दिया कि, वे कहां और क्यों जा रहे हैं।

ध्रुव की बात को सुनकर नारद ने उन्हें समझाते हुए कहा— राजकुमार, श्री हरि को प्रसन्न करके उनसे वर प्राप्त करना हँसी-खेल नहीं। तुम अभी छोटी वय में हो। तुम जिन् हरि को प्रसन्न करना चाहते हो, उन्हें बड़े-बड़े योगी भी कठिन तप करके प्रसन्न नहीं कर पाते। वन में हिंसक पशु भी रहते हैं। शीत, धूप और वर्षा का उपद्रव भी होता रहता है। तुम यह सब कैसे सहन करोगे! जाओ, घर लौट जाओ।

ध्रुव ने उत्तर दिया— मुने, मैं अब घर लौटकर नहीं जा सकता। जिस उद्देश्य और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मेरे पैर आगे बढ़े हैं, वे पीछे नहीं मुड़ सकते। जो भी संकट सामने आयेंगे, मैं उन्हें झेलूंगा। मैं मृत्यु की गोद में सो जाऊंगा, पर श्री हरि को प्रसन्न करने का प्रयत्न अवश्य करूंगा।

देवर्षि नारद ध्रुव के मन की दृढ़ता और उनकी लगन पर प्रसन्न हो उठे। वे प्रसन्न मुद्रा में बोले— राजकुमार, मैं तुम्हारी दृढ़ता और तुम्हारे प्रेम पर प्रसन्न हूं। तुम अवश्य सफलता प्राप्त करोगे। जिस मनुष्य के मन में लगन होती है, उसे कभी भी असफलता का सामना नहीं करना पड़ता। यमुना के किनारे एक पवित्र वन है— मधुवन। उसमें जाकर तप करो और 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र का जाप करो। तुम्हें अवश्य सफलता प्राप्त होगी, अवश्य श्री हरि प्रकट होकर तुम पर कृपा की दृष्टि करेंगे।

नारद के द्वारा उत्साहित किये जाने पर ध्रुव मधुवन में जाकर तप करने लगे।

उधर देवर्षि नारद घूमते हुए उत्तानपाद की सेवा में उपस्थित हुए। उत्तानपाद ध्रुव के घर से चले जाने पर बहुत उदास थे।

देवर्षि नारद ने उत्तानपाद को उदास देखकर उनसे पूछा—राजन्, आप बहुत दु:खी और उदास दिखायी पड़ रहे हैं। क्या मैं आपके दु:ख और आपकी उदासीनता के कारण को जान सकता हूं?

उत्तानपाद ने उत्तर दिया—महर्षे, छोटी वय का पुत्र ध्रुव दु:खी होकर वन में चला गया, मैं उसे रोक नहीं सका। वह न जाने कहां है? जीवित भी है, या नहीं? मेरा मन दिन-रात उसके लिए आकुल रहता है।

देवर्षि नारद ने उत्तानपाद को ढाढ़स बंधाते हुए कहा—राजन्, आपको अपने पुत्र ध्रुव के लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ध्रुव परम तेजस्वी और परम प्रतापी हैं। वे मधुवन में श्री हरि को प्रसन्न करने के लिए तप कर रहे हैं। उनके सामने श्री हरि प्रकट होंगे और उन पर कृपा की दृष्टि करेंगे। ध्रुव लौटकर आपके पास आयेंगे। भगवान से वरदान प्राप्त करने के कारण वे तो धन्य बन ही जायेंगे, आपको भी धन्य बना देंगे।

देवर्षि नारद उत्तानपाद को आश्वास्त करके चले गये। उधर ध्रुव मधुवन में तप करने लगे। शीत, धूप और वर्षा के कष्टों को सहन करते हुए तप करने लगे। आंधियां चलती थीं, बिजली कड़कड़ाती थी, वृष्टि होती थी, सिंह गरजते थे, पर ध्रुव का ध्यान भंग नहीं होता था। वे अपनी सांसों को रोककर भगवान श्री हरि के चरणों में अपने ध्यान को लगाये रहते थे।

ध्रुव के सांस रोके जाने पर हवा की गति बंद हो गयी। देवताओं और प्राणियों को सांस लेने में कठिनाई मालूम होने लगी। देवता आकुल हो उठे। उन्होंने श्री हरि की सेवा में उपस्थित होकर पुकार की। श्री हरि ने देवताओं को आश्वस्त करते हुए कहा—देवताओ, आकुल न हो। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने प्राणायाम के द्वारा अपनी सांसों को रोककर अपने चित्त को मेरे चरणों में लगा रखा है। मैं शीघ्र ही उन्हें दर्शन देकर कृतकृत्य करूंगा। फिर हवा चलने लगेगी। तुम्हारे संकट दूर हो जायेंगे। श्री हरि देवताओं को धीरज बंधाकर, गरुड़ पर सवार होकर ध्रुव के पास जा पहुंचे। ध्रुव ने आंखें खोलकर देखा, तो श्री हरि उनके सामने उसी रूप में खड़े थे, जिस रूप में ध्रुव उन्हें अपने ध्यान में देख रहे थे।

ध्रुव ने खड़े होकर श्री हरि को प्रणाम किया। उनके मन में इतना आनन्द पैदा हुआ कि उनका कंठ अवरुद्ध हो गया। वे कुछ बोलना चाहते थे, श्री हरि की प्रार्थना करना चाहते थे, पर कर नहीं पा रहे थे। वे मूक-से बन गये थे।

श्री हरि ने ध्रुव की विवशता को देखकर, उनके कंठ से अपने शंख को छुआ दिया। वाणी की धारा फूट उठी। ध्रुव विनत होकर श्री हरि की प्रार्थना करने लगे— हे प्रभो, आप जगत के पालक हैं। मेरा भी पालन कीजिए। हे प्रभो, आप दीनों के बन्धु हैं। मैं सबसे बड़ा दीन हूं। मेरे भी बन्धु बन कर मेरी भी सहायता कीजिये। हे प्रभो, आप अशरण शरण हैं, मुझे भी अपनी शरण में लीजिये। हे प्रभो, आप भव-भय-हरण हैं। मेरे भी सांसारिक भय को दूर कीजिये। हे प्रभो, आप भय-तापहारी हैं। मेरे भी तापों को दूर कीजिये।

ध्रुव की प्रार्थना को सुनकर श्री हरि प्रसन्न हो उठे। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में कहा— ध्रुव, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। मैं तुम्हें अपना वह ध्रुवलोक दे रहा हूं, जहां सप्त ऋषियों की भी पहुंच नहीं होती। जाओ, घर लौट जाओ। बहुत दिनों तक राज्य करने के पश्चात् मेरे लोक में जाकर बसो। युग-युगों तक धरती पर तुम्हारे यश का गान होता रहेगा।

भगवान श्री हरि ध्रुव को वरदान देकर चले गये। श्री हरि के दर्शन से ध्रुव आनन्दित तो हुए, किन्तु उनके मन में इस बात का बड़ा दुःख रहा कि वे भगवान से पृथक् हो गये। वे क्यों नहीं भगवान में समाविष्ट हो गये? उन्हें बहुत दिनों तक राज्य करना पड़ेगा, भगवान से पृथक् रहना पड़ेगा। आह, यह क्या हुआ? सागर के तट पर पहुंच कर भी मैं प्यासा का प्यासा ही रह गया।

पर अब क्या हो सकता था? ध्रुव मधुवन से अपने घर की ओर चल पड़े। जब वे नगर के पास पहुंचे तो उनके आने का समाचार उत्तानपाद के कानों में पड़ा। पहले तो उत्तानपाद को विश्वास नहीं हुआ, किन्तु जब देवर्षि नारद के कथन का स्मरण हुआ तो हृदय में आनन्द का सागर उमड़ उठा। वह रानियों, स्वजनों और पुरजनों के साथ ध्रुव के स्वागत के लिए चल पड़ा।

उत्तानपाद ध्रुव को देखकर रथ से नीचे उतर पड़ा। उसने आगे बढ़कर ध्रुव को अपने गले से लगा लिया। ध्रुव माताओं से श्रद्धापूर्वक मिले। पुरजनों ने उनकी जयजयकार की, स्वजनों ने उनसे मिलकर प्रसन्नता प्रकट की।

ध्रुव नगर में गये और आनन्दपूर्वक जीवन के दिन व्यतीत करने लगे। उत्तानपाद ने उचित समय पर ध्रुव का राज्याभिषेक किया। वह ध्रुव को राजसिंहासन पर बिठाकर तप करने के लिए वन में चला गया।

ध्रुव ने बहुत दिनों तक राज्य किया। उनके दो पुत्र थे— कल्प और वत्सर। उनके दोनों पुत्र बड़े प्रतापी और बड़े तेजस्वी थे।

एक बार ध्रुव का भाई उत्तम अपनी माता के साथ आखेट के लिए हिमालय

के आंचल में गया। एक यक्ष ने उत्तम और उसकी मां को मृत्यु के मुख में पहुंचा दिया। ध्रुव को जब यह समाचार मिला तो बड़े दुःखी हुए। वे अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिए यक्षों के देश में जा पहुंचे।

यक्षों को जब ध्रुव के आक्रमण का पता चला, तो उन्होंने बहुत बड़ी सेना के साथ ध्रुव को चारों ओर से घेर लिया। ध्रुव और यक्षों की सेना में तुमुल युद्ध हुआ। यक्षों की सेना ने प्रबल पराक्रम दिखाया, किन्तु ध्रुव के शौर्य के सामने उनकी कुछ न चली। यक्षों की सेना में भगदड़ मच गयी।

ध्रुव ने समझा, यक्षों की सेना पराजित होकर भाग गयी। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। यक्ष अपनी सेना का संहार होते हुए देख कर छिप गये और अपनी माया की शक्ति से ध्रुव को पराजित करने का प्रयत्न करने लगे। यक्षों की माया से कभी तो सघन अंधकार हो जाता था, तो कभी आकाश से अग्निवर्षा होने लगती थी। कभी प्रचंड आंधी चलने लगती थी, तो कभी वृष्टि होने लगती थी। कभी रक्त की वृष्टि होने लगती थी, तो कभी हड्डियों की वर्षा होने लगती थी। कभी आकाश भयानक स्वर से गूंज उठता था, तो कभी चारों ओर सन्नाटा छा जाता था। यद्यपि ध्रुव यक्षों की माया को नष्ट करते जा रहे थे, किन्तु यह बात सत्य तो है ही कि यक्षों की माया ने उन्हें समाकुल कर दिया था।

ध्रुव को व्याकुल देखकर ऋषि और मुनि चिन्तित हो उठे। उन्होंने ध्रुव से कहा— महाराज ध्रुव, आप पर श्री हरि की कृपा है। यक्षों की माया के विनाश के लिए आप उनका स्मरण करें।

ध्रुव ने यक्षों की माया के विनाश के लिए नारायण अस्त्र के संधान का निश्चय किया। ज्यों ही उन्होंने अस्त्र को हाथ में लिया, त्यों ही उनके पितामह स्वयंभू मनु आकाश में प्रकट हो उठे। उन्होंने ध्रुव को पुकार कर कहा— बेटा ध्रुव, ऐसा मत करो। यदि तुम नारायण अस्त्र का प्रयोग करोगे तो समस्त यक्षों का विनाश हो जायेगा। क्रोध करना ठीक नहीं है। शत्रु के साथ भी दया और क्षमा का बर्ताव करना चाहिए। मनुष्य का जन्म और उसकी मृत्यु उसके कर्मों के अनुसार ही होती है। उत्तम और उसकी मां की मृत्यु किसी यक्ष के द्वारा नहीं, बल्कि उनके कर्मों के कारण हुई है। तुम्हारे लिए यह उचित नहीं है कि तुम क्रोध में आकर समस्त यक्षों का विनाश करो।

स्वयंभू मनु के कथन का प्रभाव ध्रुव के हृदय पर पड़ा। उन्होंने अपने पितामह के समक्ष सिर झुका लिया। वे युद्ध करना छोड़कर अपने निवास-स्थान पर चले गये।

ध्रुव की सुजनता और उनके त्याग पर यक्षों के राजा कुबेर मोहित हो गये। उन्होंने ध्रुव के सामने प्रकट होकर कहा— महाराज ध्रुव, आप धन्य हैं। आपने शक्ति रखते हुए भी यक्षों का विनाश न करके, मेरे मन को मोहित कर लिया है। आप मुझसे जो भी वर चाहें, मांग सकते हैं।

ध्रुव ने विनीत वाणी में निवेदन किया— यक्षाधिपति, मुझे कुछ नहीं चाहिए। आप मुझ पर ऐसी कृपा करें, जिससे श्री हरि का अनुराग मेरे भीतर बराबर बना रहे। मैं उन्हें कभी भी न भूल सकूं, कभी न भूल सकूं।

कुबेर 'तथास्तु' कह करके अपने लोक में चले गये। ध्रुव राजसिंहासन पर बैठकर प्रजा का पालन करने लगे। जब राज्य करते हुए बहुत दिन बीत गये, तो एक दिन श्री हरि के दूत विमान लेकर उनकी सेवा में उपस्थित हुए। दूतों ने ध्रुव से निवेदन किया— महाराज ध्रुव, आपको भगवान श्री हरि ने स्मरण किया है। अब आप पृथ्वी को छोड़कर श्री हरि के लोक में चलें। हम आपको लेने आये हैं।

ध्रुव प्रसन्न हो उठे। वे पुरजनों और परिजनों से मिलकर विमान पर जा बैठे। विमान उन्हें लेकर उड़ चला। विमान जब कुछ दूर तक गया, तो ध्रुव को अपनी मां सुनीति की याद आयी। उन्होंने श्री हरि के दूतों से कहा— देवदूतो, विमान को पुनः धरती पर ले चलो। मैं अपनी मां के बिना श्री हरि के लोक में नहीं जाना चाहता।

देवदूतों ने उत्तर दिया— महाराज, आप चिन्तित न हों। आपकी मां का विमान आपके विमान के आगे-आगे चल रहा है।

ध्रुव हर्षित होकर श्री हरि के लोक में गये। श्री हरि ने उन्हें ध्रुवलोक में रहने की अनुमति दी। ध्रुव आज भी ध्रुवलोक में रहते हैं। जो लोग सच्चे हृदय से श्री हरि के चरणों में अनुराग करते हैं और उन्हीं को अपना सर्वस्व मानते हैं, उन्हें ध्रुव की भांति ही सुख और शान्ति तो मिलती ही है, अमर पद भी प्राप्त होता है।

वेणु का विनाश

(अत्याचारी का अंत करने से पाप नहीं लगता।)

ध्रुव जब श्री हरि के लोक में जाने लगे थे, तो वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंप गये थे। उनके जेष्ठ पुत्र का नाम कल्प था। बहुत-से लोग उसे उत्कल भी कहते थे। उत्कल की सांसारिक सुखों और राज्य में बिलकुल रुचि नहीं थी। वह विरक्त था, समदर्शी था। उसे अपने और दूसरों में बिलकुल भेद मालूम नहीं होता था। वह अपने ही भीतर समस्त प्राणियों को देखता था। अत: उसने राजसिंहासन पर बैठने से इनकार कर दिया।

जब ध्रुव के ज्येष्ठ पुत्र ने राजसिंहासन पर बैठने से इनकार कर दिया तो ध्रुव का कनिष्ठ पुत्र राजसिंहासन पर बैठा। वह बड़ा धर्मात्मा और बुद्धिमान था। उसने बहुत दिनों तक राज्य किया। उसके राज्य में चारों ओर शान्ति थी। प्रजा को बड़ा सुख था।

वत्सर के ही वंश में एक ऐसा राजा उत्पन्न हुआ, जो धर्म की प्रतिमूर्ति था। वह सत्यव्रती और बड़ा शूरवीर था। जिस प्रकार वसन्त ऋतु में प्रकृति फूली और फली रहती है, उसी प्रकार उस राजा के राज्य में प्रजा फूली और फली रहती थी। उस राजा का नाम अंग था। अंग की कीर्ति-चांदनी चारों ओर छिटकी हुई थी। छोटे-बड़े सभी उसके यश का गान करते थे। वह पुण्यात्मा तो था ही, बड़ा प्रजापालक भी था। उसकी प्रजा उसका आदर उसी प्रकार करती थी, जिस प्रकार लोग देवताओं का आदर करते हैं।

एक बार अंग ने एक बहुत बड़े यज्ञ की रचना की। यज्ञ में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और विद्वान ब्राह्मण बुलाये गये थे। यज्ञ के लिए पवित्र स्थानों से चुन-चुनकर सामग्रियां मंगायी गयी थीं। तीर्थस्थानों से जल मंगाया गया था। शुद्ध और पवित्र लकड़ियां इकट्ठी की गयी थीं।

किन्तु विद्वान ब्राह्मणों ने वेदमंत्रों के साथ देवताओं को आहुतियां दीं, तो देवताओं ने उन आहुतियों को लेना अस्वीकार कर दिया। केवल यही नहीं,

प्रार्थनापूर्वक बुलाये जाने पर भी देवतागण भाग लेने के लिए नहीं आये।

विद्वान ब्राह्मणों ने चिन्तित होकर कहा— महाराज, यज्ञ की सामग्रियां पवित्र हैं, जल भी शुद्ध है और यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण भी शुद्ध तथा चरित्रनिष्ठ हैं; किन्तु फिर भी देवगण आहुतियों को स्वीकार नहीं कर रहे हैं, मंत्रों से अभिमंत्रित किये जाने पर भी अपना भाग लेने के लिए नहीं आ रहे हैं।

विद्वान ब्राह्मणों के कथन को सुनकर महाराज अंग चिंतित और दुःखी हो उठे। उन्होंने दुःख-भरे स्वर में कहा— पूज्य ब्राह्मणो, यह तो बड़े दुःख की बात है। क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है या मुझसे कोई दूषित कर्म हुआ है? मैंने तो अपनी समझ में आज तक कोई ऐसा कार्य किया नहीं।

विद्वान ब्राह्मणों ने उत्तर में कहा— महाराज, आप तो बड़े धर्मात्मा और पुण्यात्मा हैं। कोई सोच भी नहीं सकता कि आप के द्वारा कभी कोई पाप कर्म हुआ होगा। इस जन्म में तो आपने कभी कोई दूषित कर्म किया नहीं। हो सकता है, पूर्वजन्म में आपने कोई पाप-कर्म किया हो। मनुष्य को पूर्वजन्म में किये हुए अच्छे और बुरे कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है।

महाराज अंग ने दुःख के साथ निवेदन किया— यज्ञमंडप में बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण और ऋषि तथा मुनि एकत्र हैं। यहां ऐसे भी ऋषि और मुनि हैं, जो तीनों कालों के ज्ञाता हैं। मेरी प्रार्थना है कि वे मुझे अवगत करायें, इस जन्म में या पूर्वजन्म में मुझसे कौन-सा दूषित कर्म हुआ है?

महाराज अंग की प्रार्थना को सुनकर ऋषिगण विचारों में डूब गये। कुछ क्षणों के पश्चात् ऋषियों ने कहा— महाराज, इस जन्म में या पूर्वजन्म में आपसे कोई पाप-कर्म नहीं हुआ है। सच बात तो यह है कि आप पुत्रहीन हैं। जो पुत्रहीन होता है, देवगण उसके यज्ञ की आहुतियों को स्वीकार नहीं करते। अतः यदि आप देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम पुत्र की प्राप्ति के लिए यज्ञ करें। जब तक आप पुत्र प्राप्त नहीं कर लेंगे, देवगण आपकी आहुतियों को स्वीकार नहीं करेंगे।

ऋषियों और मुनियों की सलाह से महाराज अंग ने पुत्रेष्ठि यज्ञ किया। यज्ञकुंड में एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ, जो अपने हाथों में खीर का पात्र लिये हुए था। उसने खीर के पात्र को महाराज अंग की ओर बढ़ाते हुए कहा— महाराज, पात्र की खीर को अपनी रानी को खिला दीजिये, आपको अवश्मेव पुत्र की प्राप्ति होगी।

दिव्य पुरुष अंग को खीर का पात्र देकर अदृश्य हो गया। अंग की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। उन्होंने पात्र की खीर को अपनी रानी को खिला दिया। रानी

गर्भवती हुई; उसने समय पर एक बालक को जन्म दिया। ज्योतिषियों ने बालक की कुंडली को बनाकर, उसके ग्रहों के अनुसार उसका नाम वेणु रखा।

वेणु का अर्थ होता है, बांस। जहां बांस पैदा होता है, वहां दूसरे पौधे नहीं होते। यों भी कहा जा सकथाएँ है कि बांस दूसरे पौधों को नहीं उगने देता। बांसों की रगड़ से कभी-कभी आग लग जाती है, तो सारे बांस अपनी ही आग से जल जाया करते हैं, दूसरों को भी जला देते हैं। वेणु की कुंडली में भी इसी प्रकार के ग्रह पड़े थे।

वेणु धीरे-धीरे बड़ा हुआ। वह जब बड़ा हुआ तो अंग के उलटे रास्ते पर चलने लगा, जुआ खेलने लगा, मद्यपान करने लगा और परायी स्त्रियों की लज्जा को लूटने लगा। उसके अत्याचारों से प्रजा कांप उठी। अंग के कानों में जब वेणु के बुरे कर्मों के समाचार पड़े, तो वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने वेणु को समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह क्यों मानने लगा? उसकी जन्मकुंडली में तो ग्रह ही बुरे पड़े थे। किसी ने ठीक ही कहा है—

फूलहिं-फलहिं न बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलाहिं विरंच सम।।

अंग के बहुत समझाने पर भी जब वेणु ने बुरे कर्मों का परित्याग नहीं किया, तो वे बड़े दुःखी हुए। वे सब कुछ छोड़कर, तप करने के लिए वन में चले गये। मनुष्य का जब कोई बस नहीं चलता, तो वह ईश्वर को छोड़कर और किसी का सहारा नहीं लेता।

महाराज के चले जाने पर वेणु राजसिंहासन पर आसीन हुआ। वह अतिचारी और अविचारी तो पहले ही से था। जब राजसिंहासन पर बैठा, तो उसके बुरे विचारों में पंख लग गये। वह अपने को सर्वेश्वर ओर अखिलेश्वर समझने लगा। उसने अपने राज्य में चारों ओर आदेशपत्र प्रचारित किया—कोई भी मनुष्य यज्ञ न करे, पूजा-पाठ न करे, ईश्वर का नाम न ले, ईश्वर के गुणों का गान न करे। जो मनुष्य ऐसा करेगा, उसे दंड दिया जायेगा।

प्रत्येक प्रजाजन को ईश्वर की जगह वेणु की ही पूजा करनी चाहिए। वेणु के ही यश-गुणों का गान करना चाहिए, क्योंकि वेणु ही परमात्मा है, अखिलेश्वर है।

वेणु की घोषणा ने सारे राज्य में हलचल उत्पन्न कर दी। किन्तु कोई कर क्या सकता था? उसके सैनिक और सिपाही राज्य में चारों ओर घूम-घूमकर उसकी आज्ञा का पालन करवा रहे थे। जो मनुष्य उसके आदेश का उल्लंघन करता था, उसे तलवार के घाट उतार दिया जाता था, उसके घर को जला दिया जाता था।

वेणु और उसके सिपाहियों के अत्याचारों से चारों ओर हाहाकार मच गया, दुःख और पीड़ा के बादल छा गये।

राज्य में रहने वाले ऋषि, मुनि और विद्वान ब्राह्मण चिन्तित हो उठे। वे वेणु को समझाने के लिए उसकी सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने वेणु को समझाते हुए कहा— महाराज, आप जो कुछ कर रहे हैं, वह आपके पूर्वजों के विपरीत है। आपके पूर्वजों में स्वयंभू मनु और ध्रुव प्रजा को पुत्रवत् मानते थे। वे प्रजा का पालन करना ही अपना सबसे बड़ा धर्म समझते थे। आपके पूर्वज ईश्वरानुरागी थे। वे अपने को ईश्वर का तुच्छ सेवक समझते थे। राजा को स्वयं को सेवक मानकर प्रजा का पालन करना चाहिए। जो राजा प्रजा का पालन नहीं करता, उसे नरक की यातना भोगनी पड़ती है।

किन्तु वेणु के हृदय पर ऋषियों और मुनियों के कथन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह उनके कथन के उत्तर में बोला— ऋषियो, राजा के शरीर में देवता वास करते हैं। अतः वही सर्वश्रेष्ठ है, प्रजा को उसी का गुणानुवाद करना चाहिए, उसी को सर्वेश्वर मानना चाहिए। मैंने जो कुछ किया है, ठीक ही किया है। तुम सबको मेरी आज्ञा का पालन करना चाहिए। मेरे बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए।

वेणु का खरा उत्तर सुनकर ऋषियों और मुनियों ने सोचा, वेणु के हृदय पर किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ेगा। मनुष्य जब उन्मत्त हो जाता है, तो वह अपने हाथों से ही अपना विनाश कर डालता है।

ऋषि और मुनिगण दुःखी होकर वन में चले गये। वेणु निडर होकर पापाचार से खेलने लगा, अत्याचार का व्यापार करने लगा। प्रजा उसके अत्याचारों से दुःखी होकर करुण क्रन्दन करने लगी, चीत्कार करने लगी, सकरुण स्वरों में भगवान को पुकारने लगी।

प्रजा की पुकार ऋषियों के कर्णकुहारों में पड़ी। ऋषियों ने एकत्र होकर सोचा, वेणु जब तक जीवित रहेगा, उसका अत्याचार बन्द न होगा। अतः उसे मार डालना चाहिए। अत्याचारी और अधर्मी को मार डालने से पाप नहीं लगा।

ऋषियों और मुनियों ने अपने मंत्रों की शक्ति से वेणु को मृत्यु के मुख में पहुंचा दिया। जो अत्याचार करता है, जो अधर्म के पथ पर चलता है, एक-न-एक दिन सज्जनों के हाथों वह वेणु के समान ही मारा जाता है।

प्रजापालक पृथु

(परोपकार ही महान धर्म है।)

वेणु जब मृत्यु के मुख में चला गया, तो पृथ्वी बिना राजा की हो गयी, क्योंकि वेणु का कोई उत्तराधिकारी नहीं था। जिस प्रकार पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री निराश्रित हो जाती है, उसी प्रकार राजा के बिना पृथ्वी निराश्रित हो गयी। चारों ओर आंतक पैदा हो गया, भय छा गया और लूट-खसोट होने लगी। पृथ्वी पर चारों ओर डाकुओं, आतंकवादियों और परपीड़कों का प्राबल्य हो गया।

पृथ्वी पर फैले हुए भय और आतंक को देखकर ऋषिगण अत्यन्त दुःखी हुए। वे आतंक, भय और पीड़ा को दूर करने के लिए उपाय सोचने लगे।

प्रभात के पश्चात् का समय था। सूर्य की किरणों में उष्णता आ गयी थी। ऋषि और मुनिगण सरस्वती नदी में स्नान करने के पश्चात् तट पर बैठे हुए थे, गंभीर मुद्रा में सोच-विचार कर रहे थे— राजा के बिना पृथ्वी का पालन कैसे होगा? पृथ्वी के पालन-पोषण के लिए राजा का होना अत्यावश्यक है।

ऋषियों ने आपस में विचार करके एक दिव्य पुरुष और नारी को अपने योग की शक्ति से प्रकट किया। ऋषियों ने दिव्य पुरुष का नाम पृथु और नारी का नाम अर्चि रखा। ऋषियों ने पृथु को राजसिंहासन पर बिठा कर उनका अभिषेक किया। पृथु अर्चि से विवाह करके राजा के रूप में प्रजा का पालन करने लगे।

पृथु बड़े धर्मात्मा और बड़े पुण्यात्मा थे। वे थे तो मानव, किन्तु परमात्मा के अंश थे। उनके अंग-अंग में दैवी ज्योति थी। वे शौर्य के प्रतीक थे। वे जब धनुष-बाण लेकर रथ पर बैठते थे, तो उनके तेज और उनके प्रताप को देखकर इन्द्र भी भयभीत हो उठता था।

प्रभात के पश्चात् का समय था। महाराज पृथु पूजा के पश्चात् आसन से उठे ही थे कि उसके कर्णकुहरों में आर्त पुकार पड़ी— रक्षा कीजिये महाराज, हमें भूख की ज्वाला में जलने से बचाइये।

महाराज पृथु ने बाहर निकल कर देखा, अनेक स्त्री-पुरुष खड़े थे, आर्त

वाणी में महाराज को पुकार रहे थे।

महाराज पृथु ने एकत्र-पुरुषों की ओर देखते हुए कहा— क्या बात है प्रजाजनो, आपको कौन-सा दुःख है? किस शत्रु ने आपको पीड़ा पहुंचायी है?

एकत्र स्त्री-पुरुषों ने निवेदन किया— महाराज, पृथ्वी ने अपने सारे अन्न और अपनी सारी औषधियां अपने भीतर छिपा रखी हैं। हमारे खेतों में न अन्न पैदा होता है, न वृक्षों में फल लगते हैं। बीमार होने पर हमें औषधियां भी नहीं मिलतीं। हम और हमारे पशु अन्न और जल के बिना अपना दम तोड़ते जा रहे हैं। हमारी रक्षा कीजिये।

प्रजा की दुःखकथा को सुनकर पृथु का हृदय आकुल हो उठा। उन्होंने स्नेहमयी वाणी में प्रजाजनों को आश्वस्त करते हुए कहा— प्रिय प्रजाजनो, अपने-अपने घर जाइये। मेरी सांसों के रहते हुए आपको कष्ट नहीं होने पायेगा। आप देखेंगे कि पृथ्वी शीघ्र ही अपने अन्न और औषधियों का भंडार खोल देगी।

महाराज पृथु ने प्रजाजनों को आश्वस्त करने के पश्चात् अपना धनुष और बाण उठा लिया। उन्होंने धनुष पर बाण रख कर, पृथ्वी की ओर संधान किया। पृथ्वी समाकुल हो उठी। वह गाय के रूप में पृथु के सामने प्रकट हुई।

पृथ्वी-रूपी गाय महाराज पृथु के रौद्र रूप को देखकर समाकुल हो उठी। वह भयभीत होकर भाग चली। महाराज पृथु ने धनुष पर बाण चढ़ाये हुए उसका पीछा किया।

पृथ्वी-रूपी गाय भय से कांपती हुई तीनों लोकों में गयी; किन्तु तीनों लोकों में उसे ऐसा कोई नहीं मिला जो अपनी शरण में लेकर उसे अभयता प्रदान कर सके, क्योंकि उन दिनों तीनों लोकों में महाराज पृथु का प्रताप और उनका तेज छाया हुआ था।

जब तीनों लोकों में कोई भी पृथ्वी-रूपी गाय को अपनी शरण में नहीं ले सका, तो विवश होकर वह खड़ी हो गयी। उसने अत्यधिक विनीत वाणी में पृथु से पूछा— महाराज, आखिर आप मेरा पीछा क्यों कर रहे हैं? मैं जानना चाहती हूं कि आप मुझे क्यों मारना चाहते हैं?

महाराज पृथु ने उत्तर दिया— पृथ्वी, तुमने अपने अनाज और अपनी औषधियों को अपने भीतर छिपाकर पाप किया है। अन्न और औषधियों के अभाव में मेरी प्रजा मर रही है। तुम अपने भीतर से अनाजों और औषधियों को बाहर निकाल दो। नहीं तो, मैं तुम्हें क्षत-विक्षत कर दूंगा।

पृथ्वी-रूपी गाय ने निवेदन किया— महाराज, मैं अनाजों और औषधियों को

अपने भीतर छिपा न लेती तो क्या करती। हमारे तरह-तरह के अनाजों को खाकर और अमृत के समान सुस्वादु जल को पीकर मनुष्य पाखंडी, अधर्मी और अतिचारी बनता जा रहा था। मनुष्य को दंड देने के लिए ही मैंने ऐसा किया है। यदि आप चाहते हैं, मैं अपने अनाजों और औषधियों का भंडार खोल दूं, तो बछड़े का प्रबन्ध करके मुझे दुहने का प्रयत्न कीजिये।

पृथ्वी ने नम्रता से भरे हुए वचनों को सुनकर महाराज पृथु का क्रोध शान्त हो गया। उन्होंने स्वयंभू मनु को बछड़ा बनाकर पृथ्वी-रूपी गाय को दुह लिया। उनके दुहने से पुनः खेतों में अनाज पैदा होने लगा, पुनः पीने के लिए शीतल जल मिलने लगा और पुनः रोगियों को औषधियां भी मिलने लगीं।

महाराज पृथु के पश्चात् ऋषियों, विद्वानों, ब्राह्मणों और दैत्यों ने भी अपने-अपने ढंग से पृथ्वी रूपी-गाय को दुहा। फलतः तरह-तरह की वस्तुएं प्राप्त हुईं और प्राणियों का काम-काज सुन्दरता के साथ चलने लगा, और उनके जीवन का निर्वाह होने लगा।

जब पृथ्वी का लोक तरह-तरह के धन-धान्यों से भर गया, तो चारों ओर पृथु के यश का गान होने लगा। मनुष्य तो यश का गान करने ही लगे, देवता और दैत्य भी पृथु के यश का गान करने लगे।

महाराज पृथु जब तीनों लोकों में सर्वपूज्य हो गये, तो उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करने का विचार किया। उन्होंने क्रम-क्रम से निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ किये। जब सौवां यज्ञ करने लगे, तो देवराज इन्द्र के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो उठी। उन्होंने सोचा, यदि सौवां यज्ञ भी निर्विघ्न समाप्त हो गया, तो कहीं पृथु मेरे इन्द्रलोक पर अपना अधिकार न स्थापित कर ले। अतः इन्द्र ने सौवें यज्ञ में बाधा डालने का निश्चय किया।

महाराज पृथु ने अपने कुमार की संरक्षता में सौवें यज्ञ का घोड़ा छोड़ दिया। घोड़ा पृथ्वी के देश-देशों में भ्रमण करने लगा। पृथुकुमार बड़ी संलग्नता के साथ घोड़े की देखरेख कर रहे थे। फिर भी अवसर पाकर इन्द्र ने घोड़े को चुरा लिया। घोड़े के चुराये जाने पर पृथुकुमार चिन्तित हो उठे। वे इधर-उधर घोड़े की खोज करने लगे। सहसा उन्हें एक मनुष्य के साथ घोड़ा दिखायी पड़ा। वह मनुष्य कोई और नहीं, स्वयं इन्द्र था, जो वेश बदले हुए था।

पृथुकुमार ने उस मनुष्य को युद्ध करने के लिए ललकारा, किन्तु वह मनुष्य युद्ध न करके घोड़े को छोड़कर भाग चला। पृथुकुमार घोड़े को लेकर राजधानी की ओर चले, किन्तु इन्द्र ने बीच में ही फिर घोड़े को चुरा लिया। पृथुकुमार ने इन्द्र

को युद्ध करने के लिए ललकारा, किन्तु इन्द्र युद्धं न करके पुनः अदृश्य हो गया।

पृथुकुमार घोड़े को लेकर राजधानी लौट गये। उन्होंने इन्द्र के द्वारा दो बार घोड़े को चुराये जाने की घटना अपने पिता को कह सुनायी। पृथु इन्द्र पर कुपित हो उठे। उन्होंने इन्द्रलोक पर आक्रमण करके इन्द्र को मार डालने का निश्चय किया।

पृथु के इस निश्चय से तीनों लोकों में हलचल मच गयी। आखिर, आकाशवाणी हुई— महाराज, पृथु, आप इन्द्र को मार डालने का अपना निश्चिय छोड़ दें। इन्द्र कोई अन्य नहीं, श्री हरि का ही अंश हैं। आप सौवां यज्ञ न करें। आपको सौ यज्ञ करने पर जो फल मिलता, वह फल निन्यानवे यज्ञ से ही प्राप्त होगा।

महाराज पृथु ने आकाशवाणी को सुनकर सौवें यज्ञ को पूर्ण करने का प्रयत्न छोड़ दिया। वे बहुत दिनों तक राज्य करते रहे, प्रजा को सुख प्रदान करते रहे। तत्पश्चात् अपने पुत्र को राज्य देकर वे वन में चले गये तथा वन में तप करते हुए, शरीर छोड़कर दिव्य लोक में गये। उनके दिव्य यश की गाथा युग-युगों तक धरती पर कही और सुनी जायेगी, बड़ी श्रद्धा के साथ कही और सुनी जायेगी।

प्रचेताओं की साधना

(भगवान की भक्ति से ही सुख और शान्ति प्राप्त होती है।)

पृथु के पश्चात् उनके पुत्र विजिताश्व राजसिंहासन पर बैठे। यद्यपि विजिताश्व ने बहुत दिनों तक राज्य नहीं किया, किन्तु यह बात तो सत्य है ही कि वे अपने पिता की भांति ही बड़े प्रतापी थे। यही नहीं, वे अपने पिता की भांति ही प्रजा का पालन करते थे।

विजिताश्व के पश्चात् उनके पुत्र बर्हि ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली। बर्हि के दस पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनका नाम प्रचेता था। प्रचेतागण बड़े ज्ञानी और बड़े धर्मात्मा थे। वे ज्ञान, भक्ति और प्रेम ईश्वर के घर से ही लेकर पैदा हुए थे। बाल्यावस्था में ही उनके मन में संसार से विरक्ति पैदा हो गयी थी।

प्रचेतागण किशोरावस्था में ही घर छोड़कर वन की ओर चल दिये। उनके माता-पिता ने रोकने की बड़ी चेष्टा की, किन्तु वे रुक नहीं सके। उन्होंने कहा—हम उस संसार में रहकर क्या करेंगे, जो एक दिन उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा, जिस प्रकार पानी में घुलने के बाद मिट्टी नष्ट हो जाती है।

प्रचेतागण घर से निकल कर वन की ओर चलने लगे। वे नदियों, नालों और पर्वतों को लांघते हुए सघन वन में एक सरोवर के तट पर पहुंचे। सरोवर बड़ा सुन्दर था। सरोवर के चारों ओर प्रकृति की छटा बिखरी हुई थी। तरह-तरह के फूल खिले हुए थे। तरह-तरह के पक्षी बोल रहे थे। ऐसा लगता था, मानो सरोवर और उसके चारों ओर की छटा की रचना विधि ने बड़ी रुचि के साथ की हो।

प्रचेतागण सरोवर के तट पर खड़े होकर, उसके चारों ओर बिखरी हुई छटा को देखने लगे। सहसा उनके कानों में मृदंग और वीणा की ध्वनि आ-आकर गूंजने लगी। प्रचेतागण विस्मित होकर सोचने लगे, यहां तो कोई भी दिखायी नहीं पड़ रहा है। फिर यह मृदंग और वीणा की ध्वनि कहां से आ रही है? प्रचेतागण अभी विमुग्ध होकर सोच ही रहे थे कि सरोवर के भीतर से उन्हें शिवजी निकलते हुए दिखायी पड़े। प्रचेताओं ने नम्रतापूर्वक झुककर शिवजी को प्रणाम किया और

विनीत वाणी में कहा— देवाधिदेव, आपके दर्शन से हमारा जीवन सफल हो गया। आपने हमें दर्शन देकर हम पर बड़ी कृपा की है।

देवाधिदेव ने तुच्छ होकर उत्तर में कहा— प्रेचताओ, हम तुम पर प्रसन्न हैं। तुम क्या चाहते हो, हम इस बात को जानते हैं। तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी, तुम्हारा जीवन सफल होगा। प्रचेताओ, हम तुम्हें भगवान श्री हरि का एक स्तोत्र सुना रहे हैं। तुम उसी स्तोत्र का जाप करो। उसके जाप से ही तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। सुनो, उस स्तोत्र को सुनो— हे प्रभो, हमें अपनी भक्ति देकर हमारे जीवन को सफल बनाइये। आप दयालु हैं, अनायास ही आप सब पर कृपा करते हैं; हम पर भी कृपा कीजिये। हम आपकी शरण में हैं। हे प्रभो, आप भगत के प्राण हैं। आप ही सांसों के रूप में संसार के प्राणियों के भीतर संचरित होते रहते हैं। आप ही आत्मा हैं, आप ही वाणी है और आप ही नेत्रों की ज्योति हैं। जब आप शरीर से बाहर निकल जाते हैं, तो शरीर शव बन जाता है।

हे प्रभो, आप दीनबन्धु हैं, आप अशरण-शरण हैं। आप हम पर कृपा करके हमें अपनी वह भक्ति और ज्ञान दीजिए, जिससे हम अपने को पहचान सकें, आपको प्रसन्न कर सकें।

भगवान शंकर प्रचेताओं को स्तोत्र सुना कर अदृश्य हो गये। प्रचेतागण सरोवर के जल में खड़े होकर शिवजी के बताये हुए स्तोत्र का जाप करने लगे। प्रचंड आंधियां चलती थीं, प्रलयंकारी वृष्टि होती थी, पर प्रचेताओं का जाप चलता ही रहता था।

प्रचेताओं की निष्ठा, दृढ़ता और उनकी प्रबल भक्ति ने भगवान वासुदेव को आकृष्ट किया। उन्होंने प्रचेताओं के समक्ष प्रकट होकर उनके जीवन को धन्य बना दिया। भगवान की कृपा को पाकर प्रचेतागण विमान पर बैठकर स्वर्ग चले गये। जो भगवान श्री हरि के चरणों में दृढ़ अनुराग रखता है, उसकी मनोकामना प्रचेताओं की भांति ही पूर्ण होती है।

बलि का कुफल

(जीव हिंसा बहुत बड़ा पाप है।)

महाराज पृथु का पौत्र बर्हि बड़ा कर्मकांडी था। वह दिन-रात तरह-तरह के कर्मों में लगा रहता था। वह भगवान वासुदेव की उपासना न करके देवी-देवताओं की उपासना किया करता था। वह देवी और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के यज्ञ और अनुष्ठान आदि किया करता था। केवल यही नहीं, बर्हि देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जीवों की बलि भी दिया करता था। जीवों की बलि देते समय वह बड़ा हर्षित होता था और अपनेआप को धन्य मानता था।

एक दिन देवर्षि नारद परिभ्रमण करते हुए बर्हि की सेवा में उपस्थित हुए। बर्हि ने उनका स्वागत किया, और बैठने के लिए उन्हें सुन्दर आसन दिया।

देवर्षि नारद ने बर्हि के कर्मकांडों की चर्चा करते हुए कहा— राजन्, आप दिन-रात देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के कर्म करते रहते हैं और पशुओं की बलि भी देते हैं। आप कभी श्री हरि को भी स्मरण करते हैं?

बर्हि ने उत्तर दिया— देवर्षे, मैं तो देवी-देवताओं को ही श्रेष्ठ मानता हूं। फिर श्री हरि तो सब में वास करते हैं। देवी-देवताओं में भी तो श्री हरि मौजूद हैं। अतः जब देवी-देवताओं की पूजा करता हूं तो श्री हरि की ही तो पूजा करता हूं।

नारद ने उत्तर दिया— राजन्, यह ठीक है कि भगवान वासुदेव सभी जीवों में निवास करते है, यह भी ठीक है कि देवी-देवताओं में भी भगवान श्री हरि मौजूद हैं; किन्तु यह ठीक नहीं है कि देवी-देवताओं की आराधना के रूप में आप भगवान वासुदेव की ही आराधना करते हैं। भगवान वासुदेव साकार भी हैं, निराकार भी हैं। वे भेदों से परे हैं। उनके समान देवी और देवता भेदों से परे नहीं हैं।

भगवान वासुदेव दयामय हैं। वे भोगों और बलियों से प्रसन्न नहीं होते, वे प्रसन्न होते हैं प्रेम और भक्ति से। मनुष्य को देवी और देवताओं की पूजा को छोड़कर भगवान वासुदेव के ही चरणों में प्रेम करना चाहिए। उन्हीं में अपने मन

को रमाना चाहिए।

नारद के कथन सुनकर बर्हि मौन रहा, मन-ही-मन सोचता रहा। नारद ने बर्हि की ओर देखते हुए पुनः कहा— राजन्, आप देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की बलि देते हैं? यह पाप है, अधर्म हैं। जीवों की हिंसा से बढ़कर दूसरा पाप कोई नहीं होता। आप जिन जीवों की बलि देते हैं, हर्षित होते हैं, मृत्यु के पश्चात् वे अवश्य आपसे बदला लेंगे। अतः आपको जीवों की बलि नहीं देनी चाहिए।

किन्तु नारद के कथन का प्रभाव बर्हि के हृदय पर नहीं पड़ा। वह उनके समझाने के बाद भी कर्मकांडों में लगा रहा, देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि देता रहा।

बर्हि जब मृत्यु के पश्चात् यमलोक में गया, तो उसके मार्ग को रोक कर वे सभी पशु खड़े हो गये, जिनकी उसने बलि दी थी। वे बर्हि को घूर कर देख रहे थे, डरावने स्वर में गरज रहे थे। बर्हि उन्हें देखकर डर गया, कांपने लगा, सहायता के लिए पुकार मचाने लगा।

बर्हि की पुकार को सुनकर यम के दूत अट्टहास करने लगे। उन्होंने बड़े जोर से हँसते हुए कहा— मूर्ख, तुम जिन पशुओं की बलि देकर हर्षित हुआ करते थे, वे ही आज तुमसे बदला लेने के लिए तुम्हारे सामने खड़े हैं। तुमने जीव-हिंसा करके बहुत बड़ा पाप किया है। तुम्हारी सहायता कोई नहीं कर सकता, कोई नहीं कर सकता।

यमदूतों के कथन को सुनकर बर्हि आर्तवाणी में बोला— मैंने जीव-हिंसा की थी, किन्तु देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए की थी।

यमदूतों ने उत्तर दिया— मूर्ख, कोई भी देवी और देवता बलि से प्रसन्न नहीं होता। मनुष्य अपने मन के विकारों के ही कारण देवी और देवताओं को बलि दिया करता है। अगर देवी और देवता बलि से प्रसन्न होते, तो क्या वे तुम्हारी सहायता न करते? तुमने बड़ी भूल की है। तुम आजीवन श्री हरि को भूलकर देवियों और देवताओं के ही प्रपंचों में फंसे रहे। तुमने जो भूल और जो पाप किया है, उसका कुफल तुम्हें छोड़कर और कौन भोगेगा?

यमदूतों के कथन को सुनकर बर्हि सिर पीट-पीट कर पछताने लगा, पर अब पछताने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! जो लोग भगवान के चरणों में अनुराग न करके देवियों और देवताओं के ही जाल में फंसे रहते हैं, उन्हें बर्हि की भांति ही पछताना पड़ता है।

आसक्ति का मद

(मोह के जाल में फंसे हुए मनुष्य के मन में विवेक नहीं रह जाता।)

प्राचीन काल में एक राजा था। राजा का नाम पुरंजन था। पुरंजन अपने ही सुख को सुख मानता था और अपने ही दुःख को दुःख मानता था। उसे दूसरों के सुखों और दुःखों से कोई वास्ता नहीं था।

एक बार पुरंजन ने सोचा, अपने निवास के लिए कोई ऐसा स्थान होना चाहिए, जिसके समान सुन्दर तीनों लोकों में कोई अन्य स्थान न हो। वह सच्चे अर्थों में अलौकिक हो, अपूर्व हो।

पुरंजन अपने निवास के लिए अलौकिक स्थान की खोज में निकल पड़ा। उसने पृथ्वी पर घूम-घूमकर एक-से-एक सुन्दर स्थान देखे, किन्तु किसी भी स्थान में उसका मन नहीं रमा। वह सबको छोड़ता गया, सबको अपने निवास के लिए अयोग्य ठहराता गया।

पुरंजन घूमता हुए एक वाटिका में पहुंचा। वाटिका बड़ी सुन्दर थी। वाटिका में भांति-भांति के फूलों और फलों के पौधे लगे हुए थे। तरह-तरह के पक्षी मधुर स्वरों में बोल रहे थे। मंद-मंद शीतल और सुगंधित हवा चल रही थी। ऐसा लग रहा था, मानो ऋतुराज ने स्वयं अपने निवास के लिए उसकी रचना की है।

वाटिका के पास ही एक सुन्दर नगर भी था। नगर में एक-से-एक सुन्दर भवन बने हुए थे, किन्तु नगर में कोई भी मनुष्य दिखायी नहीं पड़ रहा था। अद्‌भुत सन्नाटा और शान्ति छायी हुई थी। पुरंजन मन-ही-मन सोचने लगा— वाटिका अतीव सुन्दर है, नगर भी बड़ा भव्य है, किन्तु मनुष्य यहां कोई नहीं दिखायी पड़ रहा है। इस वाटिका और नगर की रचना किसने और क्यों की है?

पुरंजन मन-ही-मन सोच ही रहा था कि, उसे एक युवती स्त्री दिखायी पड़ी। स्त्री बड़ी सुरम्या थी। उसके साथ उसकी सहेलियां और उसके कई सेवक भी थे। उसके आगे-आगे एक सर्प भी चल रहा था, जो पांच फणों वाला था।

पुरंजन कुछ क्षणों तक विस्मित दृष्टि से स्त्री की ओर देखता रहा। फिर

उसके समीप जाकर बोला— आप कौन हैं? आपके पिता का क्या नाम है? इस वाटिका और नगर की रचना किसने की है? क्या इस नगर में कोई मनुष्य नहीं रहता?

युवती ने उत्तर दिया— मैं कौन हूं, यह बात तो मैं भी नहीं जानती। मुझे यह भी नहीं मालूम कि मेरे माता-पिता कौन हैं। मुझे पता नहीं कि इस वाटिका और नगर की रचना किसने की है। मैं केवल इतना ही जानती हूं कि मैं इस नगर में रहती हूं। मेरे साथ जो स्त्रियां चल रही हैं, वे मेरी सहेलियां हैं और जो पुरुष चल रहे हैं, वे मेरे सेवक हैं। मैं रात में जब सो जाती हूं, तो आगे-आगे चलने वाला यह सर्प मेरी रक्षा करता है। यदि आपको यह नगर सुन्दर लगता हो, तो आप यहां अपनी इच्छा के अनुसार रह सकते हैं।

पुरंजन नगर और वाटिका की सुन्दरता पर पहले से ही मुग्ध था। स्त्री की सुन्दरता को देखकर वह अपनेआप को भूल गया। वह स्त्री के साथ विवाह करके उसी नगर में रहने लगा, आनन्दपूर्वक रहने लगा।

पुरंजन उस नगर में रहता हुआ अपने को भूल गया, सब-कुछ भूल गया। नगर और स्त्री की सुन्दरता में फंसकर परमात्मा को भी भूल गया। वह नगर और स्त्री की सुन्दरता को ही अपने जीवन का धर्म और कर्तव्य समझने लगा।

उस सुन्दर नगर के परकोटे में कई द्वार थे। पुरंजन उन द्वारों से बाहर निकल कर भिन्न-भिन्न नगरों की सैर के लिए जाया करता था। वह कभी किसी नगर में जाता था, तो कभी किसी नगर में जाता था। वह उन नगरों की शोभा को देखता था और उन्हें देखकर अपने को महाभाग्यशाली समझता था। धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। पुरंजन के पुत्र हुए। एक-दो पुत्र नहीं, सौ पुत्र हुए। उसने अपने सभी पुत्रों का विवाह किया। पुत्र-वधुएं घर में आयीं। प्रत्येक वधू के भी सौ-सौ पुत्र हुए। पुरंजन अपने पुत्रों, पुत्र-वधुओं और पौत्रों के ही मोहजाल में दिन-रात फंसा रहता था। वह उनके सुखों के लिए ही प्रयत्न किया करता था, जिस प्रकार कुतिया अपने पिल्लों को दूध पिलाती है और दूसरों के पिल्लों को देखकर भूंकती है।

पुरंजन को आखेट से बड़ा प्रेम था। वह प्रायः रथ पर सवार होकर, वन में आखेट के लिए जाया करता था। वह जब आखेट के लिए जाता था, तो बहुत-से निरीह और निरपराधी पशुओं का वध किया करता था।

एक दिन जब पुरंजन आखेट से लौटकर अपने भवन में गया, तो वह अपनी रानी को न देखकर बड़ा चिन्तित हुआ। रानी की सहेलियों ने पुरंजन को बताया कि वह तहखाने में उदास पड़ी है। पुरंजन शीघ्र ही अपनी रानी के पास गया और मृदु

वाणी में उसका हालचाल पूछने लगा। रानी ने अपनी पलकों को गीला करते हुए कहा— तुम आखेट के लिए मत जाया करो। जब तुम यहां से चले जाते हो, तो मेरा मन नहीं लगता।

पुरंजन ने प्रतिज्ञा की— अब वह उसे अकेली छोड़कर कहीं नहीं जायेगा। पुरंजन उस दिन से अपनी स्त्री के पीछे-पीछे इस तरह चलने लगा, जिस तरह मदारी के पीछे-पीछे वानरी चलती है, और उसके संकेतों पर नाचती है।

पुरंजन सोचता था, वह जो कुछ कर रहा है, ठीक कर रहा है। उसके जीवन का व्यापार सदा इसी प्रकार चलता रहेगा। संसार नश्वर है, संसार में परमात्मा भी है, धर्म भी है, और कर्म भी है— पुरंजन इन बातों को जानता भी नहीं था। उसे इन बातों को जानने और समझने की चिन्ता भी नहीं रहती थी।

रात का समय था। चारों ओर सघन अंधकार छाया रहता था। सहस्रों डाकुओं ने अस्त्र-शस्त्र लेकर नगर पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने नगर को तो लूट ही लिया, बहुत-से लोगों को जान से भी मार डाला। डाकू जब लूट का माल लेकर जाने लगे, तो उन्होंने पुरंजन को पकड़ लिया। वे पुरंजन के हाथों और पैरों को बांधकर उसे घसीटते हुए लेकर चल दिये।

पुरंजन चीत्कार करने लगा। रो-रोकर कहने लगा— हाय राम, मुझे तो डाकू बांधकर ले जा रहे हैं। मेरे बाद मेरी पत्नी, मेरे पुत्रों और मेरे पौत्रों का न जाने क्या हाल होगा!

पुरंजन के कथन को सुनकर डाकू अट्टहास कर उठे— कितना बड़ा मूर्ख है यह! मनुष्य जब दुःख में पड़ता है, तो परमात्मा को याद करता है, किन्तु यह मूर्ख दुःख में पड़ने पर भी अपनी स्त्री, अपने पुत्रों और अपने पौत्रों को ही याद कर रहा है।

निर्दयतापूर्वक घसीटे जाने से पुरंजन की मृत्यु हो गयी। वह जब यमराज के पास पहुंचा तो रोता हुआ बोला— महाराज, दया करके बताइए, मेरी स्त्री, मेरे पुत्रों और पौत्रों का क्या हाल है।

यमराज ने पुरंजन की मूर्खता पर हँसते हुए कहा— तू बड़ा मूर्ख है। तू जिनका कुशल-समाचार पूछ रहा है, वे तो तेरे मर जाने से बड़े प्रसन्न हैं।

तुमने डाकुओं के द्वारा बड़े-बड़े कष्ट झेले, किन्तु तुम्हें फिर भी चेत नहीं हुआ। मूर्ख, जितना प्रेम तुमने अपने कुटुम्बियों में लगाया है, उसका शतांश भी यदि परमात्मा में लगाया होता, तो तुम्हारा यह हाल न होता। अब तो तुम्हें अपने पापों का फल भोगना ही पड़ेगा। जा, फिर धरती पर जा और स्त्री के रूप में जन्म लेकर

अपने कर्मों का फल भोग।

जो लोग स्त्री, पुत्र और पौत्रों के मोह-जाल में फंसकर परमात्मा को भूल जाते हैं, वे पुरंजन की भांति कष्ट पाते हैं और बार-बार जन्म लेकर अपने बुरे कर्मों के कुफल को भोगते हैं।

अत: मनुष्य को स्त्री, पुत्र और पौत्र आदि के मोह-जाल में फंसकर परमात्मा को भूल नहीं जाना चाहिए। सच्चा सुख स्त्री, पुत्र और पौत्रादि से नहीं मिलेगा, मिलेगा श्री हरि के चरणों में अनुराग लगाने से, उनका गुणानुवाद करने से।

गार्हस्थ्य जीवन की श्रेष्ठता

(यदि भगवान की भक्ति करते हुए गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया जाये, तो उससे बढ़कर उत्तम जीवन कोई और नहीं हो सकता।)

दोपहर के पश्चात् का समय था। स्वयंभू मनु ने अपने युवा पुत्र प्रियव्रत को बुलाकर कहा—पुत्र, अब तुम समर्थ हो गये हो, राजसिंहासन पर बैठकर पृथ्वी का पालन करो। राजा का यही श्रेष्ठ धर्म है। जो राजा पृथ्वी का पालन नहीं करता, उसे मरणोपरान्त यमपुरी की यातनाएं झेलनी पड़ती हैं।

पिता के कथन को सुनकर प्रियव्रत ने उत्तर दिया—पितृश्रेष्ठ, मैं राज्य के प्रपंचों में नहीं पड़ना चाहता। राज्य के प्रपंचों में पड़ने से श्री हरि के भजन को भूल जाऊंगा। मनुष्य के जन्म की सार्थकता श्री हरि के भजन करने में ही है।

वास्तव में बात यह थी कि प्रियव्रत नारद के द्वारा उपदेशित हो चुके थे। नारद ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा था—जगत में श्री हरि के भजन को छोड़कर और कुछ नहीं है। जगत का वैभव, जगत के सुख और जगत की सुन्दरता—सब निस्सार हैं। यदि सत्य है, तो भगवान वासुदेव का नाम सत्य है। अतः मानव-जन्म पाने पर भगवान के नाम-जप में ही समय व्यतीत करना चाहिए।

नारद के द्वारा उपदेशित किये जाने पर प्रियव्रत ने संकल्प किया था कि वे विवाह नहीं करेंगे, पुत्रादि पैदा नहीं करेंगे और राजसिंहासन पर बैठकर राज्य भी नहीं करेंगे। वे वन में चले जायेंगे और श्री हरि के भजन तथा नाम-जप में ही अपने जीवन को व्यतीत कर देंगे।

अतः जब स्वयंभू मनु ने प्रियव्रत को राजसिंहासन पर बैठने के लिए कहा तो वे चिन्ता में पड़ गये। कुछ क्षणों तक मन-ही-मन सोचते रहे। फिर उन्होंने राजसिंहासन पर बैठने से मना कर दिया। यद्यपि वे अपने पिता का बड़ा आदर करते थे और उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझते थे, किन्तु फिर भी उन्होंने राजसिंहासन पर बैठने से मना कर दिया, क्योंकि नारद जी की कृपा से भगवान वासुदेव की भक्ति उनकी रग-रग में समा गयी थी।

प्रियव्रत बड़े ही योग्य थे, बड़े ही शूरवीर थे और बड़े ही न्यायप्रिय भी थे। ब्रह्मा जी को सदा इस बात की चिन्ता रहती है कि उनकी सृष्टि में सारे काम सुख और शान्ति के साथ होते रहें, पृथ्वी का प्रतिपालन होता रहे और प्रजा सुख से जीवन व्यतीत करे। ब्रह्मा जी यह भी चाहते हैं कि पृथ्वी पर जो राजा हों, वे सब प्रकार से योग्य हों, शूरवीर हों और प्रजा का पालन करने वाले हों। अत: ब्रह्मा जी के कानों में जब यह समाचार पड़ा कि प्रियव्रत राजसिंहासन पर नहीं बैठेंगे, तो वे चिन्ताग्रस्त हो गये। उन्होंने प्रियव्रत के पास जाकर उन्हें समझाने का विचार किया।

प्रभात का समय था। प्रियव्रत भगवान वासुदेव के चरणों में ध्यान लगाकर बैठे हुए थे। ब्रह्मा जी ने उनके सामने प्रकट होकर स्नेहसिंचित स्वर में कहा— प्रियव्रत!

प्रियव्रत ने आंखें खोलकर देखा, ब्रह्मा जी सामने खड़े थे। प्रियव्रत का मस्तक झुक गया। उन्होंने विनीत वाणी में कहा— पितामह, आपने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया।

ब्रह्मा जी ने कृपामयी दृष्टि से प्रियव्रत की ओर देखते हुए कहा— प्रियव्रत, मैंने सुना है, तुमने राजसिंहासन पर न बैठने का निश्चय किया है?

प्रियव्रत ने उत्तर दिया— हां विधे, आपने सच सुना है।

ब्रह्मा जी प्रियव्रत की ओर देखते हुए बोले— प्रियव्रत, क्या मैं तुम्हारे निश्चय का कारण जान सकता हूं?

प्रियव्रत ने उत्तर दिया— पितामह, राज्य और राजसिंहासन का सम्बन्ध राजनीति से होता है। राजनीति बड़ी प्रपंचमयी होती है। छल, असत्य, अविश्वास, विश्वासघात— सब कुछ राजनीति में चलता है। मैंने भगवान वासुदेव के चरणों में मन लगाने का महाव्रत धारण किया है। मैं छलनामयी राजनीति के प्रपंचों में कैसे पड़ सकता हूं!

प्रियव्रत की बात को सुनकर ब्रह्मा जी विचारों में मग्न हो उठे, मन-ही-मन सोचने लगे। कुछ क्षणों के पश्चात् उन्होंने सोचते हुए कहा— प्रियव्रत, मुझे यह जानकर अत्यधिक हर्ष हुआ है कि तुमने भगवान वासुदेव के चरणों में मन लगाने का व्रत धारण किया है। इससे बढ़कर अच्छी बात और क्या हो सकता है? मनुष्य को सम्पूर्ण प्रपंचों को छोड़कर भगवान वासुदेव के चरणों में मन लगाना ही चाहिए। किन्तु, प्रियव्रत, तुम भगवान वासुदेव के चरणों में मन लगाते हुए भी तो राजसिंहासन पर बैठ सकते हो। जिस राजनीति को तुम छलनामयी बता रहे हो, इसकी बागडोर जब तुम्हारे हाथों में आयेगी, तो क्या उसकी रूप नहीं बदल जायेगा? मैं मानता हूं कि राजाओं का जीवन प्रपंचों से भरा हुआ होता है; किन्तु तुम एक ऐसे राजा के रूप में सिंहासन पर बैठोगे, जो सच्चाई के साथ प्रजा का

पालन करेगा। तुम मेरे लिए और सम्पूर्ण प्रजा के लिए गर्व की वस्तु बनोगे।

विधाता के कथन ने प्रियव्रत को मौन कर दिया। वे मन-ही-मन सोचने लगे, कुछ क्षणों के पश्चात् सोचते हुए बोले—पितामह! मैंने सब कुछ छोड़कर वन में जाने का निश्चय किया है और निश्चय किया है, भगवान की भक्ति में अपना जीवन व्यतीत करूं।

ब्रह्मा जी बोले—तुम्हारा निश्चय बड़ा पवित्र है, बड़ा मंगलमय है। किन्तु प्रियव्रत, यह सारी सृष्टि भगवान की है। सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणी भगवान के ही हैं। प्रजा, स्त्री, पुत्र, पौत्रादि सभी भगवान के ही हैं। इनकी सेवा और इनका पालन-पोषण करना भगवान की ही सेवा है। मनुष्य यदि भगवान को याद करता हुआ गार्हस्थ्य ज़ीवन व्यतीत करे, तो गार्हस्थ्य जीवन से बढ़कर अच्छा जीवन और कोई नहीं होता। तुम वन में अवश्य जाओ, पर पहले अपने सारे सांसारिक कर्मों को पूर्ण कर लो, गृहस्थी के सुखों का उपभोग कर लो। आखिर तुम्हें सांसारिक सुखों के स्वाद का पता कैसे चलेगा?

विधाता के तर्कों ने प्रियव्रत को मौन कर दिया। उन्होंने शीश झुकाये हुए कहा—पितामह, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

ब्रह्मा जी अदृश्य हो गये। प्रियव्रत राजसिंहासन पर बैठकर राज्य करने लगे। उन्होंने अपना विवाह किया। उनकी पत्नी का नाम बर्हिष्मती था। उनके दस पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई। पुत्री का नाम ऊर्जस्वती था। उन्होंने दानवों के गुरु शुक्राचार्य जी से उसका विवाह किया। स्त्रियों में श्रेष्ठ देवयानी ऊर्जस्वती से ही पैदा हुई थी।

प्रियव्रत राज्य और पुत्रों का पालन-पोषण करते हुए वासुदेव के चरणों में मन लगाये रहते थे। वे इस कार्य को भी उन्हीं का कार्य समझ कर किया करते थे। जब वे सभी कार्य पूरे कर चुके, तो उन्होंने सबको उसी प्रकार छोड़ दिया, जिस प्रकार लोग पुराने और फटे कपड़े छोड़ दिया करते हैं। वे वन में चले गये। उन्होंने भगवान की भक्ति करते हुए अपना शरीर छोड़ दिया तथा उन्हें दिव्य धाम की प्राप्ति हुई।

जो लोग भगवान की भक्ति करते हुए सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं, उन्हें मरणोपरान्त प्रियव्रत की भांति ही दिव्य धाम की प्राप्ति होती है।

ऋषभदेव का त्याग

(त्याग ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।)

प्रियव्रत के पौत्र नाभि की कोई संतान नहीं थी। उन्होंने संतान की प्राप्ति के लिए बड़ा जप-तप किया और बड़ी दान-दक्षिणा भी दी; किन्तु, फिर भी उन्हें संतान की प्राप्ति नहीं हुई। वे बड़े दुःखी और निराश हुए।

नाभि ने बड़े-बड़े ऋषियों और मुनियों से परामर्श किया। वे चाहते थे कि दिव्य पुरुष की भांति ही उनके घर में पुत्र उत्पन्न हो। ऋषियों ने उन्हें यज्ञ के द्वारा दिव्य पुरुष के आवाहन की सलाह दी।

नाभि ने यज्ञ का आयोजन किया। बड़े-बड़े ऋषि और मुनि एकत्र हुए। यज्ञ होने लगा। मंत्रों और आहुतियों के साथ दिव्य पुरुष का आवाहन किया जाने लगा।

दिव्य पुरुष प्रसन्न होकर प्रकट हुए। ऋषियों ने उनकी प्रार्थना करते हुए कहा— प्रभो, हम सब आपके दास हैं, आप हमारे स्वामी हैं। हम पर कृपा कीजिये, हमारी रक्षा कीजिये और हमारी मनोभिलाषाओं को पूर्ण करके हमारे जीवन को सार्थक बनाइये।

दीनबन्धु, आप जगत के पालक हैं। जगत में जो कुछ होता है, आप ही की इच्छा से होता है। हमारे राजा नाभि आपके ही समान पुत्र चाहते हैं। उन पर दया कीजिये। उनकी मनोकामना को पूर्ण कीजिये।

ऋषियों की प्रार्थना से दिव्य पुरुष प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में कहा— ऋषियो, मेरे समान दूसरा कौन हो सकता है? तुम्हारी प्रार्थना पर मैं स्वयं नाभि के घर जन्म धारण करूंगा।

दिव्य पुरुष ने अपने वचन के अनुसार स्वयं नाभि के घर में जन्म लिया। बड़ा ही सुन्दर स्वरूप था उनका। अंग-अंग में ज्योति थी, सुन्दरता थी और शौर्य था। नाभि ने उनका नाम ऋषभदेव रखा।

ऋषभदेव बड़े अलौकिक और बड़े चमत्कारिक थे। जब वे बड़े हुए, तो नाभि उन्हें राज्य देकर वन में चले गये। ऋषभदेव राजसिंहासन पर बैठकर राज्य करने लगे। उन्होंने अपना विवाह किया। एक-एक करके उनके दस पुत्र उत्पन्न

हुए। भरत उन्हीं के पुत्र थे।

किन्तु ऋषभदेव की राज्य, पृथ्वी, सांसारिक सुखों और पुत्रों में कोई आसक्ति नहीं थी। वे कार्य करते जा रहे थे, किन्तु उन कार्यों में उनकी कोई रुचि नहीं थी, न उनके प्रति मोह ही था। वे उन्हें मिथ्या समझते थे, निस्सार समझते थे।

एक दिन ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को बुला कर कहा— यह राज्य, यह वैभव और ये सुख की सामग्रियां, सब निस्सार हैं। यह शरीर, शरीर की इन्द्रियां, मन और बुद्धि—यह सब भी मिथ्या है। सत्य है परमात्मा रूपी ब्रह्म। अतः मनुष्य को परमात्मा-रूपी ब्रह्म को ही जानने और समझने की चेष्टा करनी चाहिए। जब तक मनुष्य परमात्मा रूपी ब्रह्म को समझ नहीं लेता, वह अहम् के जाल में फंसा रहता है और नाना प्रकार के कष्ट भोगता है।

ऋषभदेव अपने पुत्रों को निरासक्ति का उपदेश देकर वन की ओर चल दिये। जिस प्रकार छोटा बालक बड़े प्रेम से मिट्टी का घरौंदा बना कर उसे तोड़ देता है, उसी प्रकार ऋषभदेव ने बिना किसी मोह के राज्य और घर-द्वार को छोड़ दिया। उन्हें राज्य और घर-द्वार से मोह हो ही कैसे सकता था? वे तो दिव्य पुरुष के प्रतिरूप थे।

ऋषभदेव ने घर छोड़ने पर वस्त्रों का परित्याग कर दिया। वे दिगम्बर हो गये। वे दिगम्बर के रूप में पृथ्वी पर परिभ्रमण करने लगे। वे जहां भी जाते थे, उपदेश देते हुए कहते थे— मनुष्यो, अपने को समझो। जो कुछ तुम कर रहे हो, वह ठीक नहीं है। तुम्हारे दुःखों का यही कारण है कि, तुम अपने को समझ नहीं रहे हो। जिस दिन तुम अपनेआप को समझ लोगे, उस दिन तुम्हारे सारे दुःखों का अंत हो जायेगा।

ऋषभदेव पृथ्वी पर विचरते हुए सिंहों को गले से लगा लेते ये, सर्पों को पकड़ कर माला की भांति गले में डाल लेते थे और विष को पीने के बाद भी जीवित रहते थे। उनकी चमत्कारिकता पर साधारण मनुष्य तो मुग्ध थे ही, बड़े-बड़े सम्राट भी मुग्ध थे।

ऋषभदेव पृथ्वी पर विचरते हुए दक्षिण दिशा में एक सघन वन में पहुंचे। जिस समय वे सघन वन के पास पहुंचे, उस समय वन में भीषण दावाग्नि लगी हुई थी। जीवन-जन्तु व्याकुल होकर भाग रहे थे। ऋषभदेव हँसते हुए दावाग्नि में कूद पड़े। दावाग्नि तो बुझ गयी, पर ऋषभदेव अदृश्य हो गये। जो भी इस नश्वर जगत में जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य अदृश्य हो जाना पड़ता है। कोई इस जगत में सदा रह ही कैसे सकता है, क्योंकि यह जगत तो स्वयं ही मिट्टी के समान गल जाने वाला है।

भरत और मृग

(मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।)

ऋषभदेव के वनगमन के पश्चात् उसके यशस्वी पुत्र ने राज्य की बागडोर अपने हाथों में ली। भरत ने पंचजली से अपना विवाह किया। उनके कई पुत्र पैदा हुए, जिनमें नहुष बड़े प्रतापी और तेजस्वी थे। नहुष ने स्वर्ग पर चढ़ाई करके देवराज इन्द्र को भी पराजित किया था।

भरत योगी थे, महान निरासक्त थे। राज्य और वैभव में उनकी रंचमात्र भी ममता नहीं थी। जिस प्रकार पानी में रहता हुआ कमल पानी को स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार राजर्षि भरत भी वैभव की गोद में रहते हुए भी वैभव का उपभोग नहीं करते थे। वे अपने मन को चारों ओर से खींच कर, भगवान वासुदेव के चरणों में लगाये रहते थे।

राजकुमार नहुष जब बड़े हुए, तो राजर्षि भरत राज्य उन्हें सौंप कर गंडकी के किनारे हरिहर क्षेत्र में चले गये और पुलहाश्रम में रहकर भक्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। वे दिन-रात बड़ी श्रद्धा के साथ अपने मन को भगवान वासुदेव के चरणों में रमाये रहते थे। संसार की तो बात ही क्या, वे स्वयं अपनेआप को भी भूल गये थे।

दोपहर के पूर्व का समय था। राजर्षि भरत अपने आश्रम के द्वार पर कुशासन पर बैठे हुए थे। सहसा एक मृगी आयी और गंडकी नदी में पानी पीने लगी। मृगी गर्भवती थी।

मृगी अभी पानी पी ही रही थी कि उसे सिंह की दहाड़ सुनायी पड़ी। वह पानी पीना छोड़कर चकित दृष्टि से उधर देखने लगी। सिंह दहाड़ता हुआ उसी की ओर चला आ रहा था। मृगी भयभीत हो उठी। उसे अपनी चिन्ता तो कम, किन्तु उस शिशु की चिन्ता अधिक थी, जो उसके गर्भ में था।

मृगी ने उस पार जाने के लिए बड़े जोर से छलांग मारी, क्योंकि इस किनारे पर तो सिंह उसकी ओर बढ़ता आ रहा था। मृगी छलांग मारकर स्वयं तो उस पार

निकल गयी, किन्तु उसके गर्भ का शिशु खिसक कर गंडकी नदी की धारा में गिर पड़ा। मृगी ने उस पार जाकर एक पर्वत की गुफा में पीड़ा से तड़प-तड़प कर अपना शरीर छोड़ दिया।

इधर गंडकी की धारा में गिरा हुआ मृग का शिशु पानी में डूबने-उतराने लगा। राजर्षि भरत इस दृश्य को देखकर कांप उठे। मृगी के शिशु को पानी में डूबता-उतराता हुआ देखकर उनके मन में दया उत्पन्न हो उठी। उन्होंने नदी में कूद कर मृगी के शिशु को बचा लिया।

राजर्षि भरत मृगी के शिशु को अपने आश्रम में ले गये। वे अपने बच्चे के समान ही प्यार से उसका पालन-पोषण करने लगे। उन्होंने जिन भगवान वासुदेव के प्रेम में अपना राज्य छोड़ दिया था, उन्हीं को वे मृगी के बच्चे के मोह में भूल गये। वे जप-तप भी भूल गये, आचार-विचार भी भूल गये। उनके लिए सब-कुछ हो गया मृगी का बच्चा, केवल मृगी का बच्चा। मनुष्य का मन जब मोह के जाल में फंस जाता है, तो इसी प्रकार उसका विवेक नष्ट हो जाता है।

मृगी का बच्चा अभी छोटी ही उम्र का था कि राजर्षि भरत का अंतिम समय आ गया। वे अब इस बात को सोच कर बड़े दुःखी हुए कि उनके बाद मृगी के बच्चे का क्या होगा? उन्होंने मृगी के बच्चे का ध्यान करते हुए ही शरीर को छोड़ दिया।

राजर्षि भरत को दूसरे जन्म में मृग का शरीर प्राप्त हुआ। मनुष्य जिसका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ता है, दूसरे जन्म में उसे उसी का शरीर प्राप्त होता है। राजर्षि भरत ने मृगी के बच्चे का ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ा था, इसलिए दूसरे जन्म में उन्हें मृग का शरीर प्राप्त हुआ था।

किन्तु वे भगवान वासुदेव के अनन्य भक्त थे। अतः मृग का शरीर प्राप्त होने पर भी उन्हें अपने पूर्व-जन्म की सारी बातें स्मरण थीं। वे यह सोचकर बड़े दुःखी हुए कि उन्होंने किस तरह एक मृगी के बच्चे के मोह में फंसकर भगवान वासुदेव को भुला दिया था। वे मृग के रूप में अपने धर्म-कर्म का पालन करने लगे। मृग का शरीर छोड़ने पर उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ था। ब्राह्मण के शरीर में वे जड़ भरत के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

मनुष्य को राजर्षि भरत के समान ही कर्मानुसार विविध योनियों में जन्म लेना पड़ता है, फल भोगना पड़ता है।

जड़ भरत

(आत्मज्ञान प्राप्त होने पर मान और अपमान की ओर ध्यान नहीं जाता।)

राजर्षि भरत ने जब मृग के शरीर का त्याग किया, तो उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ। ब्राह्मण का शरीर प्राप्त होने पर भी उन्हें अपने पूर्व-जन्म का ज्ञान पहले की ही भांति बना रहा। उन्होंने सोचा, इस जन्म में कोई विघ्न-बाधा उपस्थित न हो, इसलिए उन्हें सजग हो जाना चाहिए। वे अपने कुटुम्बियों के साथ पागलों का सा व्यवहार करने लगे अर्थात् ऐसा व्यवहार करने लगे कि जिससे उनके कुटुम्बी यह समझें कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है।

जड़ भरत के पिता उन्हें पंडित बनना चाहते थे, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वे एक भी श्लोक नहीं याद कर सके। उनके पिता ने उन्हें जड़ और मूर्ख समझ लिया। पिता की मृत्यु के पश्चात् मां भी चल बसी। कुटुम्ब में रह गये भाई और भाभियां। भाई और भाभियां जड़ भरत के साथ बहुत बुरा व्यवहार करती थीं।

जड़ भरत इधर-उधर मज़दूरी करते थे। जो कुछ मिल जाता था, खा लिया करते थे और जहां जगह मिलती थी, सो जाया करते थे। सुख-दुःख और मान-सम्मान को एक समान समझते थे।

भाइयों ने जब देखा कि उनके छोटे भाई के कारण उनकी अप्रतिष्ठा हो रही है, तो उन्होंने उन्हें खेती के काम में लगा दिया। जड़ भरत दिन-रात खेतों की मेड़ों पर बैठकर खेतों की रखवाली करने लगे। वे शरीर से बड़े स्वस्थ और हट्टे-कट्टे थे।

उन्हीं दिनों एक डाकू सन्तान की प्राप्ति के लिए एक मनुष्य की भद्रकाली को बलि देने जा रहा था, किन्तु जब बलि का समय प्रस्तुत हुआ तो वह मनुष्य भाग गया। डाकू ने अपने अनुचरों से कहा कि वे बलि के लिए किसी दूसरे मनुष्य को पकड़ कर लायें।

डाकू के अनुचर किसी दूसरे मनुष्य की खोज में निकल पड़े। उनकी दृष्टि

खेत की मेड़ पर बैठे हुए जड़ भरत पर पड़ी। वे शरीर से स्वस्थ और हट्टे-कट्टे तो थे ही, डाकू के अनुचर उन्हें पकड कर ले गये।

डाकू ने जड़ भरत को सुस्वादु भोजन खिलाया। फिर उन्हें माला पहना कर बलि के लिए भद्रकाली के सामने बिठा दिया। ज्यों ही डाकू ने उन पर खड्ग चलाया, त्यों ही हुंकार के साथ देवी प्रकट हो गयीं। उन्होंने डाकू के हाथों से खड्ग छीनकर, उसी खड्ग से उसका मस्तक काटकर फेंक दिया। जड़ भरत पुनः खेत की मेड़ पर जाकर बैठ गये और पहले की भांति ही रखवाली करने लगे।

एक दिन राजा रहूगण पालकी पर बैठकर, आत्मज्ञान की शिक्षा लेने के लिए कपिल मुनि के पास जा रहे थे। मार्ग में पालकी के एक कहार की मृत्यु हो गयी। राजा रहूगण ने अपने सेवकों से कहा कि वे किसी दूसरे कहार को खोज कर लायें।

रहूगण के सेवक किसी दूसरे कहार की खोज में निकल पड़े। उनकी दृष्टि खेत की मेड़ पर बैठे हुए जड़ भरत पर पड़ी। सेवक उन्हें पकड़ कर ले गये।

जड़ भरत ने बिना कुछ आपत्ति किये हुए, कहारों के साथ पालकी कंधे पर रख ली। वे जब पालकी लेकर चलने लगे, तो बहुत संभल-संभल कर चलने लगे। उनके पैरों के नीचे कोई जीव दब न जाये इसलिए उनके पैर डगमगा उठते थे। राजा रहूगण को झटका लगता था। उन्हें कष्ट होता था।

राजा रहूगण ने कहारों से कहा— क्यों जी, तुम लोग किस तरह चल रहे हो? संभल कर, सावधानी के साथ क्यों नहीं चलते? कहारों ने उत्तर दिया— महाराज, हम तो सावधानी के साथ चल रहे हैं, किन्तु यह नया कहार हमारे चलने में विघ्न पैदा करता है। इसके पैर रह-रह कर डगमगा उठते हैं।

राजा रहूगण ने जड़ भरत को सावधान करते हुए कहा— क्यों जी, तुम ठीक से क्यों नहीं चलते? देखने में तो हट्टे-कट्टे मालूम होते हो। क्या पालकी लेकर ठीक से चला नहीं जाता? सावधानी से मेरी आज्ञा का पालन करो, नहीं तो दंड दूंगा।

रहूगण के कथन को सुनकर जड़ भरत मुसकरा उठे। उन्होंने मुसकराते हुए कहा— आप शरीर को दंड दे सकते हो, पर मुझे नहीं दे सकते; मैं शरीर नहीं, आत्मा हूं। मैं दंड और पुरस्कार दोनों से परे हूं। दंड देने की बात को कौन कहे, आप तो मुझे छू भी नहीं सकते।

जड़ भरत की ज्ञान से भरी हुई वाणी को सुनकर रहूगण विस्मय की लहरों में डूब गये। उन्होंने आज्ञा देकर पालकी नीचे रखवा दी। वे पालकी से उतर कर

जड़ भरत के पैरों पर गिर पड़े। उन्होंने जड़ भरत के पैरों को पकड़ कर कहा— महात्मन्, मुझे क्षमा कीजिये, कृपापूर्वक बताइये, आप कौन हैं? कहीं आप वे कपिल मुनि ही तो नहीं हैं, जिनके पास मैं आत्मज्ञान की शिक्षा लेने जा रहा था?

जड़ भरत ने उत्तर दिया— राजन्, मैं न तो कपिल मुनि हूं और न कोई ऋषि हूं। मैं पूर्व-जन्म में एक राजा था। मेरा नाम भरत था। मैंने भगवान वासुदेव के प्रेम और भक्ति में घर-द्वार छोड़ दिया था। मैं हरिहर क्षेत्र में जाकर रहने लगा था। किन्तु एक मृगशिशु के मोह में फंसकर मैं भगवान को भी भूल गया। मृगशिशु का ध्यान करते हुए जब शरीर का त्याग किया, तो मृग का शरीर प्राप्त हुआ। मृग का शरीर प्राप्त होने पर भी भगवान की अनुकम्पा से मेरा पूर्व-जन्म का ज्ञान बना रहा। मैं यह सोच कर बड़ा दुःखी हुआ कि मैंने कितनी अज्ञानता की थी! एक मृगी के बच्चे के मोह में फंसकर मैंने भगवान श्री हरि को भुला दिया था।

राजन्, जब मैंने मृग के शरीर का त्याग किया, तो मुझे यह ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ। ब्राह्मण का शरीर प्राप्त होने पर भी मेरा पूर्व-जन्म का ज्ञान बना रहा। मैं यह सोच कर कि मेरा यह जन्म व्यर्थ न चला जाये, अपने को छिपाये हूं। मैं दिन-रात परमात्मा-रूपी आत्मा में लीन रहता हूं; मुझे शरीर का ध्यान बिलकुल नहीं रहता।

राजन्, इस जगत में न कोई राजा है, न प्रजा है; न कोई अमीर है, न कोई गरीब है; न कोई कृषकाय है, न कोई स्थूलकाय है; न कोई मनुष्य है, न कोई पशु है। सब आत्मा ही आत्मा हैं, ब्रह्म ही ब्रह्म हैं।

राजन्, मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। यही मानव-जीवन की सार्थकता है। यही श्रेष्ठ ज्ञान है, और यही श्रेष्ठ धर्म है।

रहूगण जड़ भरत से अमृतज्ञान को पाकर तृप्त हो गये। उन्होंने जड़ भरत से निवेदन किया— महात्मन्, मुझे अपने चरणों में रहने दीजिये, अपना शिष्य बना लीजिये।

जड़ भरत ने उत्तर दिया— राजन्, जो मैं हूं, वहीं आप हैं। न कोई गुरु है, न कोई शिष्य है। सब आत्मा हैं, ब्रह्म हैं।

जड़ भरत जब तक संसार में रहे, अपने आचरण और व्यवहार से अपने ज्ञान को प्रकट करते रहे। जब अंतिम समय आया, तो चिरनिद्रा में सो गये, ब्रह्म में समा गये। यह सारा जगत ब्रह्म से निकला हुआ है और ब्रह्म में ही समा जाता है। ब्रह्म की इस लीला को जो समझ पाता है, उसी को जगत में सुख और शान्ति प्राप्त होती है।

अजामिल

(प्रेम और भक्ति का मार्ग ही श्रेष्ठ मार्ग है।)

प्राचीन काल में एक नगर में एक ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण का नाम अजामिल था। अजामिल वेदों का ज्ञाता था, बड़े ही धर्म और कर्म के साथ रहा करता था। जो भी काम करता था, नीति और धर्म की ही दृष्टि से करता था।

एक दिन अजामिल कहीं जा रहा था। जब वह एक उपवन से होकर निकलने लगा, तो उसकी दृष्टि एक अद्‌भुत दृश्य पर पड़ी। उसने देखा, एक भद्र मनुष्य एक वेश्या के साथ विहार कर रहा है।

उस दृश्य का प्रभाव अजामिल के हृदय पर भी पड़ा—उसी प्रकार पड़ा, जिस प्रकार शराबी के साथ रहने से मदिरापान का और जुआरी के साथ रहने से जुआ खेलने का प्रभाव पड़ता है।

अजामिल ने सोचा—काश, मैं भी इसी प्रकार वेश्या के साथ विहार करता।

अजामिल धर्म-कर्म छोड़कर वेश्या के साथ विहार करने लगा। वह पहले जहां वेदों का पाठ किया करता था, वहां अब दिन-रात वेश्या के साथ रहने लगा। केवल दृश्य मात्र देखने से अजामिल का जीवन बदल गया। इसीलिए बड़े-बड़े लोगों का कहना है कि न तो बुरे दृश्य देखो, न बुरी बातें सुनो और न बुरे मनुष्यों की संगत में रहो।

अजामिल अपने घर की सम्पदा ले जाकर वेश्या को देने लगा। जिस प्रकार अग्नि लगने पर घर का माल-असबाब जल कर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार वासना की अग्नि में भी सब कुछ जल कर भस्म हो जाता है। अजामिल ने अपना सब-कुछ वासना की अग्नि में झोंक दिया। जब वेश्या को देने के लिए उसके पास नहीं रहा, तो वह डाके डालने लगा।

अजामिल प्रतिदिन वन में निकल जाता था। राहगीरों का धन तो छीन ही लेता था, उन्हें जान से भी मार डालता था। वह जो धन प्राप्त करता था, उसमें से कुछ तो वेश्या को देता था, कुछ अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में व्यय करता था।

प्रतिदिन डाके डालने और राहगीरों की जान लेने के कारण अजामिल बड़ा क्रूर हो गया था। हिंसा उसके नेत्रों में नाचती थी, अपहरण और लूट उसके मुखमंडल पर बोलता रहता था। धर्म क्या है, ईश्वर क्या है— अजामिल इस बात को बिलकुल भूल गया था।

अजामिल के कई पुत्र थे। उसके सबसे छोटे पुत्र का नाम नारायण था। वह अपने पुत्रों में उसी को सर्वाधिक प्यार करता था। जब देखो, तब उसका नाम लेकर उसे बुलाया करता था।

संयोग की बात, अजामिल का अंतिम समय उपस्थित हुआ। वह चारपाई पर पड़ा हुआ था। आंखें बन्द किये हुए था। यमराज के दूत उसके प्राण को ले जाने के लिए उपस्थित हुए। वह यमराज के दूतों की डरावनी शक्लों को देखकर डर गया। वह आर्त कंठ से अपने पुत्र को पुकार उठा— नारायण, नारायण!

अजामिल की आर्त कंठ से निकली हुई पुकार नारायण के पार्षदों के कानों में भी पड़ी। उन्होंने सोचा, उनके स्वामी के किसी भक्त पर महान संकट आ पड़ा है। अत: वे दौड़ पड़े।

नारायण के पार्षद शीघ्र ही अजामिल के पास जा पहुंचे। उन्होंने देखा, यमराज के दूत अजामिल के शरीर के भीतर से उसके प्राणों को खींच रहे हैं।

नारायण के पार्षदों ने यमदूतों की ओर देखते हुए कहा— तुम लोग कौन हो? इस मनुष्य के शरीर से प्राण क्यों खींच रहे हो? उसे कहां ले जाओगे?

यमदूतों ने उत्तर दिया— हम धर्मराज के दूत हैं। मृत्युलोक में जितने भी मनुष्य मरते हैं, हम उनके प्राणों को धर्मराज के समक्ष ले जाते हैं। वे ही उसके पाप और पुण्य का निर्णय करते हैं। इस मनुष्य ने सदा बुरे कर्म ही किये हैं। हम इसे धर्मराज के समक्ष ले जाएंगे। वे इसे इसके पापों की सजा देंगे।

नारायण के पार्षदों ने यमदूतों की बात को सुनकर उनसे धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न पूछे। यमदूतों के मुख से अपने प्रश्नों के उत्तर पाकर नारायण के पार्षदों ने कहा— तुम अब इसके प्राणों को नहीं ले जा सकते। इसने अपने सारे पापों का प्रायश्चित कर लिया है। जो मनुष्य नारायण का नाम लेता है, उसके सारे बुरे कर्मों का प्रायश्चित अपनेआप हो जाता है। इस मनुष्य ने बड़े ही आर्त कंठ से नारायण के नाम का उच्चारण किया है। बड़े-बड़े ज्ञानियों को ज्ञान से, बड़े-बड़े योगियों को योग से और बड़े-बड़े तपस्वियों को तप से जो फल प्राप्त नहीं होता, वह फल नारायण के नाम को लेने से ही मिल जाया करता है।

यमदूत करते तो क्या करते? वे अजामिल के प्राणों को छोड़ कर चले गये।

उनके जाने पर नारायण के पार्षद भी अदृश्य हो गये।

अजामिल अपनेआपे में आया। वह सचेत और सजग होकर सोचने लगा— क्या मैं स्वप्न देख रहा था? वे डरावनी सूरत वाले कौन थे? वे कहां चले गये? उनकी बातों से लगता है, वे मेरे प्राणों को यमलोक में ले जाने के लिए आये थे। वे किस तरह मुझे पापी और क्रूरकर्मी कह रहे थे? वे सुन्दर सूरत और मधुर वाणी बोलने वाले कौन थे? वे भी कहां चले गये? उनकी बातों से लगता है, वे भगवान नारायण के दूत थे। मैंने तो अपने बेटे का नाम लेकर पुकारा था, पर वे नारायण के उच्चारण मात्र से ही मेरी रक्षा के लिए आ गये। उन्होंने किस तरह नारायण के नाम की महिमा बताते हुए मेरी रक्षा की! मैं भी कितना बड़ा मूर्ख हूं, जो नारायण के नाम का जाप न करके शूकर के समान अपना और अपने कुटुम्बियों का पेट भरता रहा, तरह-तरह के पापों में लगा रहा।

अजामिल को नारायण के पार्षदों के कथनों से बड़ी प्रेरणा मिली। वह घर-द्वार छोड़कर हरिद्वार चला गया और हरिद्वार में रहता हुआ नारायण के नाम का जाप करने लगा। नारायण के नाम का जाप करने से ही अन्त में उसे दिव्य लोक की प्राप्ति हुई। उधर यमदूतों ने धर्मराज के पास जाकर उनसे कहा— महाराज, हमारी समझ में नहीं आता, आप बड़े हैं या नारायण? नारायण के पार्षदों ने हमें आपके पास अजामिल के प्राणों को नहीं लाने दिया।

धर्मराज ने उत्तर दिया— दूतो, नारायण जगत के स्वामी हैं। वे सबसे बड़े हैं। सभी देवता और मनुष्य उन्हीं के यश का वन्दन करते हैं। जो मनुष्य उनके नाम का जाप करता है, वह सभी प्रकार के पापों और श्रापों से छूट जाता है। भविष्य में तुम्हें भी सोच-समझ कर काम करना चाहिए। जो मनुष्य नारायण का नाम जपता हो, उसे मेरे पास नहीं लाना चाहिए।

अजामिल की कहानी इस बात को सामने रखती है कि प्रेम और भक्ति का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। अत: मनष्य को योग और अनुष्ठानों के प्रपंचों में न पड़कर भगवान के चरणों में मन लगाना चाहिए।

गुरु के अपमान का फल

(गुरु ईश्वर के समान होता है।)

इन्द्र को अपने पद और अपने वैभव का बड़ा गर्व हो गया था। वह अपनेआप को सबसे बड़ा समझने लगा था।

दोपहर के पश्चात् का समय था। इन्द्र अपनी सभा में सिंहासन पर आसीन था। उसके बायीं ओर उसकी पत्नी शची विराजमान थीं। देवता अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। वार्तालाप चल रहा था।

संयोग की बात, देवगुरु बृहस्पति सभा-भवन में उपस्थित हुए। वे अपने परिधान में थे। देवताओं ने उठकर बृहस्पति का स्वागत किया, आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम किया।

किन्तु इन्द्र न तो अपने सिंहासन से उठा, न उसने प्रणाम ही किया। वह गर्वपूर्वक सिंहासन पर बैठा ही रह गया, बैठा ही रह गया।

इन्द्र के इस व्यवहार से बृहस्पति ने अपमान का अनुभव किया। वे जिस प्रकार सभा-भवन में आये थे, उसी प्रकार पुनः लौट गये। वे निश्चयपूर्वक समझ गये कि इन्द्र को अपने पद और अपने वैभव का गर्व हो गया है।

बृहस्पति के चले जाने पर इन्द्र को अपनी भूल का बोध हुआ। वह मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगा कि उससे गुरु का अपमान हो गया है। उसने निश्चय किया कि वह गुरु के पास जाकर अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना करेगा।

किन्तु क्षमा-याचना के पूर्व ही दैत्यों ने स्वर्ग पर धावा बोल दिया। देवताओं ने दैत्यों का सामना किया, किन्तु वे पराजित हो गये। इन्द्र को देवताओं-सहित स्वर्ग को छोड़ देना पड़ा। इन्द्र और देवता निराश्रित की भांति इधर-उधर भटकने लगे।

जब दैत्य इन्द्र और देवताओं को अधिक कष्ट पहुंचाने लगे, तो वे ब्रह्मा जी के पास गये। उन्होंने ब्रह्मा जी से निवेदन किया— हम दैत्यों के द्वारा अत्यधिक सताये जा रहे हैं। कृपया हमारी रक्षा और हमारे उद्धार का कोई उपाय बताइये।

ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया— देवराज, आपने अपने गुरु बृहस्पति का अपमान करके अच्छा नहीं किया। गुरु का अपमान करने के कारण आपका तेज और शौर्य

मन्द पड़ गया है। उधर दैत्यों ने अपने गुरु शुक्राचार्य की सेवा करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया है। इस समय आप दैत्यों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते।

ब्रह्मा जी के कथन को सुनकर देवता बड़े दुःखी हुए। इन्द्र ने नम्र वाणी में कहा– पितामह, हम आपकी शरण में हैं। आप को हमारी रक्षा के लिए कोई-न-कोई उपाय बताना ही पड़ेगा।

ब्रह्मा जी ने सोचते हुए कहा–एक ही उपाय है। आप त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाइये। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। वे आपकी व्यथा-कथा को सुनकर अवश्य आप कर कृपा करेंगे। आपको कोई-न-कोई उपाय बतायेंगे।

ब्रह्मा जी की सलाह से इन्द्र देवताओं सहित विश्वरूप की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने विश्वरूप को अपने दुःख की कहानी सुनाकर उनसे भी निवेदन किया कि वे देवताओं की रक्षा के लिए कोई उपाय बतायें।

विश्वरूप के हृदय में दया पैदा हो उठी। उन्होंने इन्द्र को नारायण कवच देते हुए कहा– देवराज, आप 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र का जाप करें। यदि आप निमयपूर्वक मंत्र का जाप करके नारायण कवच को पहन करके दैत्यों से युद्ध करेंगे तो युद्ध में आपको विजय प्राप्त होगी।

इन्द्र ने विश्वरूप की आज्ञा का पालन किया। उसने मंत्र का जाप करने के पश्चात् कवच को पहन कर, दैत्यों से युद्ध किया। इन्द्र को विजय प्राप्त हुई।

यद्यपि इन्द्र को पुनः राज्य और वैभव प्राप्त हो गया, किन्तु यह बात सत्य तो है ही कि गुरु का अपमान करने के कारण उसकी पराजय तो हुई, उसको बड़े-बड़े कष्टों का सामना भी करना पड़ा। जो लोग गर्व के मद में गुरु का अपमान करते हैं, उन्हें इन्द्र की भांति की तरह-तरह के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

वृत्रासुर का वध

(परोपकार ही परम धर्म है।)

विश्वरूप के पिता त्वष्टा श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, किन्तु उनकी माता दैत्य-पुत्री थीं। अतः विश्वरूप जब यज्ञ करते थे, तो देवताओं और दैत्यों दोनों के नाम से आहुतियां दिया करते थे। इन्द्र को जब इस रहस्य का पता चला, तो उसके हृदय में विश्वरूप के प्रति घृणा पैदा हो उठी। यद्यपि विश्वरूप ने इन्द्र की बड़ी भलाई की थी, किन्तु फिर भी इन्द्र ने विश्वरूप का मस्तक काट कर फेंक दिया।

त्वष्टा के मन में बड़ा दुःख पैदा हुआ। उन्होंने सोचा, मेरे पुत्र विश्वरूप ने तो इन्द्र का बड़ा उपकार किया था, किन्तु फिर भी उसने उसे काल के मुख में पहुंचा दिया। वह बड़ा अकृतज्ञ और अधम है। ऐसे कृतघ्नी और अधम का सर्वनाश होना ही चाहिए।

त्वष्टा ने एक यज्ञ किया। उन्होंने अपने मंत्रों की शक्ति से यज्ञकुंड से एक भयंकर दानव को उत्पन्न किया। वह दानव बड़ा विकट और बड़ा शूरवीर था। त्वष्टा ने उसका नामकरण किया— वृत्रासुर।

त्वष्टा के आदेश से वृत्रासुर ने देवलोक पर आक्रमण किया। देवताओं ने बड़ी वीरता के साथ वृत्रासुर का सामना किया, किन्तु उसके शौर्य के समक्ष देवताओं की एक न चली। देवता युद्ध में पराजित होकर भाग गये।

इन्द्र-सहित देवता वृत्रासुर के अत्याचारों की आग में जलने लगे। देवता जहां भी जाते थे, वृत्रासुर का अत्याचार अधिक बढ़ता गया, तो देवताओं सहित इन्द्र नारायण की सेवा में उपस्थित हुआ। इन्द्र ने नारायण के गुणों का गान करके उन्हें वृत्रासुर के अत्याचारों की कहानी सुनायी और उनसे प्रार्थना की— प्रभो, आपको छोड़कर वृत्रासुर का वध कोई नहीं कर सकता। आपने सदा देवताओं की रक्षा की है। दया करके वृत्रासुर के अत्याचारों से भी देवताओं को बचाइये।

नारायण ने प्रसन्न होकर कहा— देवराज, वृत्रासुर की मृत्यु महर्षि दधीचि की हड्डियों से बने हुए वज्र को छोड़कर और किसी चीज से नहीं हो सकता। महर्षि

दधीचि बड़े परोपकार और त्यागी हैं। आप उनके पास जाकर उन्हें देवताओं के दु:खों की कहानी सुनाइये। वे अवश्य आप पर दया करेंगे और अपना शरीर त्याग कर, अपनी हड्डियां आपको दे देंगे।

नारायण की सलाह से इन्द्र ने दधीचि के पास पहुंच कर उन्हें देवताओं के दु:खों की कहानी सुनायी और उनसे प्रार्थना कि वे देवताओं की भलाई के लिए अपने शरीर की हड्डियां प्रदान करें।

महर्षि दधीचि ने इन्द्र की प्रार्थना को सुनकर कहा— देवराज, हर एक प्राणी को अपना शरीर बड़ा प्रिय होता है। मनुष्य रुपया-पैसा तो दे सकता है, किन्तु अपना शरीर नहीं दे सकता। शरीर छोड़ने के समय बड़ी पीड़ा होती है। संसार में ऐसा कौन है, जो दूसरों के लिए शरीर छोड़ने की पीड़ा को सहन कर सकेगा? इन्द्र ने निवेदन किया— मुनिश्रेष्ठ, आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सच है; किन्तु आप महान त्यागी और महान परोपकारी हैं। हम देवताओं की शरण में हैं। कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये। हमें वृत्रासुर के अत्याचारों की आग में जलने से बचाइये।

इन्द्र के दु:ख से भरे हुए निवेदन को सुनकर दधीचि द्रवित हो उठे। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में कहा— मैं आपको निराश नहीं करूंगा। मैं अपने शरीर का त्याग कर रहा हूं। आप मेरी अस्थियां ले लें।

दधीचि ने योग की शक्ति से अपने शरीर का त्याग कर दिया। इन्द्र ने विश्वकर्मा के द्वारा दधीचि की हड्डियों से वज्र का निर्माण कराया। जब वज्र बनकर तैयार हो गया, तो इन्द्र ने दानवों को युद्ध के लिए ललकारा।

फलत: नर्मदा नदी के किनारे देवताओं और दानवों का घोर युद्ध हुआ। युद्ध में इन्द्र को विजय प्राप्त हुई। वृत्रासुर इन्द्र के हाथों वज्र के द्वारा मारा गया। युगों पूर्व यह घटना घटी थी। आज भी आकाश में बिजली के घोर गर्जन के रूप में हमें वज्र की कहानी सुनायी पड़ती है और सुनायी पड़ती है दधीचि के त्याग और परोपकार की कहानी।

जो लोग दूसरों की भलाई के लिए मरते हैं, वे कभी नहीं मरते, सदैव जीवित रहते हैं।

चित्रकेतु का मोहभंग

(मोह से अज्ञान की उत्पत्ति होती है।)

प्राचीन काल में शूरसेन प्रदेश में एक राजा राज्य करता था। राजा का नाम चित्रकेतु था। चित्रकेतु बड़ा धर्मनिष्ठ था। उसकी धर्मनिष्ठा के कारण उसके राज्य की पृथ्वी उसी प्रकार अनाज और फल-फूल देती थी, जिस प्रकार एक स्नेहमयी मां अपनी सन्तानों के लिए खाने-पीने की वस्तुओं का प्रबन्ध करती है।

चित्रकेतु के पास सब-कुछ तो था, किन्तु कोई सन्तान नहीं थी। वह दिन-रात सन्तान के लिए चिन्तित रहा करता था। सोचा करता था, उसके पश्चात् कौन उसके राज्य का उत्तराधिकारी होगा और कौन उसका अन्तिम संस्कार करेगा?

एक बार अंगिरा ऋषि का चित्रकेतु के राजभवन में आगमन हुआ। राजा ने श्रद्धापूर्वक ऋषि का स्वागत किया और उन्हें आसन दिया और उनके चरणों की भूरि-भूरि वन्दना की।

ऋषि ने चित्रकेतु के मुखमंडल की ओर देखते हुए कहा— राजन्, कहिये आपका रानियां और आपके कुटुम्ब के सभी लोग सकुशल तो हैं? आपकी प्रजा आनन्दपूर्वक जीवन तो व्यतीत कर रही है? मैं आपके मुखमंडल पर चिन्ता की छाया देख रहा हूं। क्या मैं जान सकता हूं, इसका क्या कारण है?

चित्रकेतु ने उत्तर दिया— ऋषिवर, आप त्रिकालज्ञ हैं। आप अंतर्यामी हैं। आप से भीतर और बाहर का कुछ भी भेद छिपा नहीं है। फिर भी यदि आप पूछ रहे हैं तो बताता हूं। मेरे पास सब-कुछ है, पर सन्तान नहीं है। सन्तान न होने से मुझे सब-कुछ सूना लगता है। मैं तो चिन्तित रहता ही हूं, मेरे पूर्वज भी चिन्तित रहते हैं। आखिर, कौन पिंडदान देकर उनकी आत्मा को तृप्त करेगा? कृपया कोई ऐसा उपाय कीजिये, जिससे मुझे सुयोग्य सन्तान की प्राप्ति हो।

चित्रकेतु की चिन्ता, उनके दुःख और उनकी विनयशीलता ने अंगिरा ऋषि को द्रवित कर दिया। उन्होंने यज्ञ किया और यज्ञ अवशेष प्रसाद चरु चित्रकेतु को देते हुए कहा— राजन्, अपनी रानी को यह चरु खिला दीजिये। आपको निश्चयपूर्वक एक पुत्र की प्राप्ति होगी, जो आपके हर्ष और शोक का कारण बनेगा।

ऋषि चरु देकर चले गये। चित्रकेतु की कई रानियां थीं। वह अपनी बड़ी रानी कृतिद्युति को अधिक चाहता था। अत: उसने अपनी बड़ी रानी को ऋषि का दिया हुआ चरु खिला दिया।

समय पर कृतिद्युति के गर्भ से एक बालक उत्पन्न हुआ। चित्रकेतु के हर्ष की सीमा नहीं थी। जिस प्रकार वसन्त ऋतु के आने पर सारी प्रकृति खिल उठती है, उसी प्रकार पुत्र पैदा होने पर राजा का मन खिल उठा। उसने आनन्द उत्सव तो मनाये ही, दान-दक्षिणा भी प्रचुर मात्रा में दी।

पुत्र-प्राप्ति होने पर चित्रकेतु अपनी बड़ी रानी को और भी अधिक प्रेम करने लगा। वह दूसरी रानियों को हेय समझने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरी रानियों के मन में ईर्ष्या की आग जल उठी। स्त्रियों के मन में जब ईर्ष्या पैदा होती है, तो वे धर्म और अधर्म का विचार नहीं करतीं। चित्रकेतु की रानियों ने उचित और अनुचित का विचार न करके बड़ी रानी के पुत्र को विष दे दिया।

बड़ी रानी ने जब अपने पुत्र को मृत पाया, तो वह कटे हुए वृक्ष की भांति गिर पड़ी, रुदन करने लगी। चित्रकेतु के कानों में जब यह समाचार पड़ा तो वह भी व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़ा। किन्तु अब क्या हो सकता था? कोई कितना ही रुदन क्यों न करे, कितने ही आंसू क्यों न बहाये, किन्तु मरा हुआ मनुष्य लौटकर नहीं आता, नहीं आता।

जिस प्रकार पानी न मिलने पर पौधे सूख जाते हैं, उसी प्रकार पुत्र के वियोग में चित्रकेतु का मन सूख गया। वह कामकाज छोड़ कर चिन्ता की आग में जलने लगा।

उसके राज्य में चारों ओर दु:ख के बादल छा गये। जब राजा ही दु:ख से आक्रान्त हो गया, तो प्रजा कैसे सुखी रह सकता थी?

चित्रकेतु के दु:खं का समाचार अंगिरा ऋषि के कानों में भी पड़ा। वे चित्रकेतु के श्रेष्ठ राजा और मनुष्य समझते थे। अत: वे वेश बदल कर राजा के समीप जा पहुंचे। उनके साथ नारद जी भी थे, जो वेश बदले हुए थे।

अंगिरा ऋषि ने चित्रकेतु को समझाते हुए कहा—राजन्, जो मर जाता है, उसके लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि शोक से उसकी पुन: प्राप्ति नहीं हो सकता। जिस वस्तु की प्राप्ति पुन: न हो, उसके लिए ज्ञानी मनुष्य को शोक नहीं करना चाहिए।

अवधूत-वेशधारी अंगिरा जी की प्रेममयी वाणी को सुनकर चित्रकेतु ने कहा— आप कौन हैं, जो मुझे पिता और माता की भांति समझा रहे हैं?

अवधूत-वेशधारी ऋषि ने उत्तर दिया— राजन्, मैं अंगिरा हूं। आपके दु:ख को सुनकर मुझसे नहीं रहा गया। मैं आपको समझाने के लिए आ गया। मेरे साथ जो दूसरा अवधूत है, वह नारद जी हैं।

अंगिरा ऋषि ने राजा चित्रकेतु को ज्ञान का अमृत पिलाते हुए कहा— राजन्, यह जगत नश्वर है। नश्वर जगत में जो मनुष्य जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन मृत्यु की गोद में जाना ही पड़ता है। आपको स्मरण होगा कि, मैंने पहले ही कहा था कि आपके घर में ऐसा पुत्र जन्म लेगा, जो आपके हर्ष और शोक का कारण बनेगा। राजन्, उसने जन्म लेकर आपको हर्षित कर दिया था। अब वह अपनी मृत्यु से आपको शोकित कर रहा है। जो वस्तु नष्ट हो जाने वाली है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है।

किन्तु अंगिरा ऋषि की ज्ञान से भरी हुई वाणी का रंचमात्र भी प्रभाव चित्रकेतु के हृदय पर नहीं पड़ा। मनुष्य का मन जब अत्यधिक शोक से आग्रस्त हो जाता है, तो उसे ज्ञान का अमृत फीका लगता है।

नारद जी ने जब यह देखा कि, उपदेश का प्रभाव चित्रकेतु के हृदय पर नहीं पड़ेगा, तो उन्होंने एक दूसरी युक्ति का सहारा लिया। उन्होंने चित्रकेतु के मृत पुत्र के जीवात्मा को बुला कर उससे कहा—जीवात्मे, तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे वियोग में समाकुल हैं, तुम अपने शरीर में प्रवेश करके उन्हें सुख और शान्ति दो।

जीवात्मा ने उत्तर दिया— मैं अब तक अनेक बार अनेक रूपों में जन्म धारण कर चुका हूं। मेरे अनेक माता-पिता और भाई-बन्धु भी हो चुके हैं। किसी जन्म में जो मेरी मां थी, वही मेरे दूसरे जन्म में मेरी पत्नी बनी और जो मेरे पिता थे, वही मेरे पुत्र बने। अत: मैं नहीं जानता, कौन मेरा पिता है, और कौन मेरी मां हैं। मैं तो इन्हें पहचानता भी नहीं।

जीवात्मा के रहस्य-कथन को सुनकर चित्रकेतु के हृदय में ज्ञान पैदा हो उठा। उनके मन का मोह नष्ट हो गया। उन्होंने निश्चित रूप से इस बात को समझ लिया कि जगत के सारे नाते-रिश्ते व्यर्थ हैं। मनुष्य को नाते-रिश्तों के प्रपंच में न फंस कर केवल भगवान के ही चरणों में मन को लगाना चाहिए।

जब चित्रकेतु के हृदय में ज्ञान उत्पन्न हो गया, तो उन्होंने नारद और अंगिरा जी ने प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मेरा उद्धार हो जाये। मैं भगवान के चरणों के पास पहुंच जाऊं।

चित्रकेतु की प्रार्थना को सुनकर अंगिरा ऋषि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने चित्रकेतु को एक मंत्र बताकर कहा— राजन्, आप नियमपूर्वक इस मंत्र का जाप

करें। आपको भगवान संकर्षण का अवश्य दर्शन प्राप्त होगा। आपका जीवन धन्य बन जायेगा।

चित्रकेतु ने अंगिरा ऋषि के आदेशानुसार मंत्र का जाप किया। भगवान संकर्षण ने चित्रकेतु को दर्शन देकर उनके जीवन को धन्य बना दिया। वे जीवनमुक्त हो गये, जीवितावस्था में ही देवताओं के सदृश वन्दनीय बन गये। जो लोग सभी प्रकार के मोह-बन्धनों को तोड़कर, भगवान वासुदेव की शरण में जाते हैं, वे सभी प्रकार के कष्टों से छूट जाते हैं।

अभिशाप

(कभी-कभी जो नहीं होना चाहिए वह भी हो जाता है।)

जब चित्रकेतु का मोह भंग हो गया और भगवान की शरण में जाने से हृदय में ज्ञान का सूर्य उदय हुआ, तो वे सब-कुछ छोड़कर इधर-उधर परिभ्रमण करने लगे, मानव-समाज को अपना संदेश देने लगे।

एक दिन जो राजा चित्रकेतु पुत्र के वियोग में व्याकुल थे, भगवान की शरण में जाने पर उन्हीं का हृदय पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश विमल हो गया। उनके हृदय में न दुःख रह गया, न शोक रह गया। वे शोक, हर्ष, अमृत और विष को एक समान समझने लगे। मनुष्य के हृदय से जब भेदबुद्धि निकल जाती है, तो उसका हृदय आकाश की भांति सम हो जाता है।

प्रभात के पश्चात् का समय था। सूर्य की किरणों में तेजी आ गयी थी। जीवनमुक्त चित्रकेतु अपनेआप में डूबे हुए कहीं जा रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि एक गोष्ठी पर पड़ी। उस गोष्ठी में जहां ऋषि और मुनि सम्मिलित थे, वहां शिव जी भी पार्वती जी के साथ बैठे हुए थे।

एक साधारण गोष्ठी में शिव जी को पार्वती के साथ बैठा देख कर चित्रकेतु के मन में विस्मय पैदा हो उठा। वे अपनेआप ही बोल उठे— अरे, यहां तो शिव जी भी पार्वती के साथ बैठे हुए हैं! जो शिव जी साधारण गोष्ठी में बैठे हुए हैं, वे सृष्टि के संहारकर्ता कैसे हो सकते हैं और वे विष को पीकर कैसे पचा सकते हैं? लोग शिव जी को अजर, अमर और अविनाशी कहते हैं। जो शिव जी पार्वती के साथ साधारण गोष्ठी में सम्मिलित हो सकते हैं वे अजर, अमर और अविनाशी कैसे हो सकते हैं? जो शिव जी दिन-रात अपनी धर्मपत्नी को बगल में बिठाये रहते हैं, वे महायोगी कैसे हो सकते हैं?

चित्रकेतु के मुख से निकले हुए शब्द शिव जी और पार्वती के भी कानों में पड़े। शिव जी तो मौन ही रहे, किन्तु पार्वती जी अपने को रोक नहीं सकीं। वे क्षुब्ध होकर बोलीं—इस राजा को बड़ा गर्व हो गया है। यह इस योग्य नहीं है कि

भगवान श्री हरि के चरणों के पास बैठे सके। इसके हृदय में तो भेदबुद्धि है। जो अपनी भेदबुद्धि के कारण शिव जी को नहीं समझ पाता, उस मूर्ख को तो दैत्यों के वंश में जन्म लेना चाहिए। मेरे अभिशाप से चित्रकेतु दैत्यों के वंश में जन्म लेगा।

पार्वती के मुख से निकले हुए अभिशाप के शब्द चित्रकेतु के कानों में भी पड़े। उन्होंने कहा— माता, मैं आपके अभिशाप को स्वीकार कर रहा हूं। मुझसे भूल हुई, मुझे क्षमा कीजिये।

चित्रकेतु की विनीत वाणी को सुनकर शिव जी द्रवित हो उठे। उन्होंने पार्वती जी को समझाते हुए कहा— तुम्हें चित्रकेतु को ऐसा श्राप नहीं देना चाहिए था। वह भगवान श्री हरि का अनन्य भक्त है, तुम्हारे श्राप को सुनकर भी तुम्हें श्राप दे सकता था, क्योंकि उसमें भी श्राप देने की शक्ति है; किन्तु उसने शक्ति रहते हुए भी ऐसा नहीं किया। भगवान के प्रेम और भक्ति ने उसके हृदय को अत्यधिक नम्र और शीतल बना दिया है।

किन्तु अब क्या हो सकता था? अब तो श्राप पार्वती जी के मुख से निकल चुका था। शिव जी के कथन को सुनकर पार्वती जी बोलीं— मेरा अभिशाप सत्य सिद्ध होकर रहेगा। किन्तु चित्रकेतु दानव के रूप में श्री हरि के द्वारा दंडित होकर पुनः परम पद का भागी बनेगा।

कहते हैं, पार्वती के अभिशाप से चित्रकेतु ने ही वृत्रासुर के रूप में जन्म धारण किया था। कौन जानता था, एक साधारण-सी भूल के कारण चित्रकेतु दैत्य-शिरोमणि वृत्रासुर के रूप में जन्म धारण करेगा! कहां तो भक्त और निरासक्त चित्रकेतु और कहां देवताओं को कष्टों की आग में जलाने वाला वृत्रासुर! दोनों में कितना अन्तर था, कितना वैषम्य था!

इसीलिए तो बड़े-बड़े आचार्य कहते हैं कि जो नहीं होना चाहिए, वह भी कभी-कभी हो जाता है।

प्रह्लाद का जन्म

(साधु पुरुष शत्रुओं पर भी दया करते हैं।)

देवताओं और दैत्यों का परस्पर बड़ा पुराना वैर है। विचारों की विषमता के कारण दोनों में प्राय: युद्ध होता ही रहता है। देवता धर्मव्रती हैं, सत्यनिष्ठ हैं, परोपकारी हैं; किन्तु दैत्य हैं अधर्मपन्थी, दूसरों को कष्ट देने वाले।

जब श्री हरि के हाथों हिरण्याक्ष का वध हो गया, तो उसका भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने निश्चय किया कि चाहे जैसे भी हो वह देवताओं से अपने भाई की मृत्यु का बदला लेकर रहेगा।

हिरण्यकशिपु सोचने लगा, वह क्या करे कि मृत्यु पर भी उसका अधिकार हो जाये। जब तक मृत्यु पर उसका अधिकार नहीं हो जायेगा, वह देवताओं से अपने भाई की मृत्यु का बदला नहीं ले सकेगा।

हिरण्यकशिपु मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए वन में जाकर ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए तप करने लगा। देवताओं को जब यह ज्ञात हुआ कि हिरण्यकशिपु ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए तप कर रहा है, तो उन्होंने उसके तप में विघ्न डालने का निश्चय किया। उन्होंने सोचा, यदि हिरण्यकशिपु का तप पूर्ण हो गया और उसे अमरता का वरदान मिल गया, तो फिर उसे पराजित करना अत्यधिक कठिन हो जायगा। अत: देवताओं ने सुअवसर पाकर हिरण्यकशिपु की राजधानी पर चढ़ाई कर दी। हिरण्यकशिपु के दानव सैनिकों ने देवताओं का सामना किया, पर सेनापति से रहित सेना की जो दशा होती है, वही दशा दानव सेना की भी हुई। दानव सेना युद्ध में पराजित होकर भाग खड़ी हुई। हिरण्यकशिपु की राजधानी पर देवताओं का अधिकार हो गया।

देवता विजय से उन्मत्त हो उठे। वे जब राजधानी से जाने लगे, तो उनकी दृष्टि हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधू पर पड़ी। वे कयाधू को भी अपने साथ लेते गये। कयाधू उस समय गर्भवती थी। यद्यपि देवता अच्छे विचारों के थे, धर्मात्मा थे, पर विजय के मद में उनकी भी बुद्धि मन्द हो गयी थी। जब देवताओं की ही बुद्धि

मंद हो गयी थी, तो फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है!

देवगुरु बृहस्पति को देवताओं का यह कार्य अच्छा नहीं लगा। उन्होंने देवताओं को फटकारते हुए कहा— तुम सब कयाधू को बंदी बनाकर क्या करोगे? वह स्त्री है। स्त्री किसी की हो, उसके साथ बुरा व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो लोग परायी स्त्रियों को अपमानित करते हैं, उनकी पराजय होती है।

बृहस्पति ने आगे और कहा— कयाधू को छोड़ दो। वह इस समय गर्भवती है। इसे नारद जी के आश्रम में पहुंचा दो। नारद जी जो उचित समझेंगे, करेंगे।

देवगुरु की सलाह को मानकर देवताओं ने कयाधू को नारद जी के आश्रम में पहुंचा दिया।

कयाधू नारद जी के आश्रम में रहने लगी। नारद जी उसे प्रति-दिन भगवान की भक्ति और प्रेम का उपदेश दिया करते थे। वे कहा करते थे— इस नश्वर जगत में भगवान वासुदेव की भक्ति को छोड़कर सब-कुछ व्यर्थ है। भगवान वासुदेव ही सब के आराध्य हैं, सब के पूज्य हैं। मनुष्य, देवता और दैत्य— सब को भगवान वासुदेव की भक्ति में ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। वास्तविक सुख और शान्ति भगवान की भक्ति को छोड़कर और किसी वस्तु से नहीं प्राप्त होती।

कयाधू बड़े ध्यान से नारद जी के उपदेश को सुना करती थी। उसके द्वारा उसका गर्भस्थ बालक भी नारद जी के उपदेश को सुना करता था। उन उपदेशों को सुनने से वह बालक गर्भ में ही परम साधु सदाचारी और श्री हरि का भगत बन गया। जब वह पैदा हुआ, तो आरम्भ से ही अपने हृदय की भक्ति को प्रकट करने लगा।

कयाधू के गर्भ से उत्पन्न यही बालक प्रह्लाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कितने आश्चर्य की बात है कि दैत्यवंश में जन्म लेकर प्रह्लाद ने भगवान वासुदेव की भक्ति का ऐसा आदर्श उपस्थित किया, जैसा आज तक कोई भी नहीं कर सका। युग बीत गये हैं, किन्तु आज भी प्रह्लाद का नाम बड़े प्रेम और बड़ी श्रद्धा के साथ लिया जाता है।

प्रह्लाद के जीवन की कथा बड़ी प्रभावमयता के साथ इस बात को सामने रखती है कि यदि गर्भवती माताएं गर्भ की स्थिति में धर्म की कथा पढ़ें और सुनें, तो उनके गर्भ से उत्पन्न होने वाले बालक भी धर्मात्मा और सदाचारी बनेंगे। काश, भारत की स्त्रियां इस मर्म और रहस्य को समझ सकती!

उधर हिरण्यकशिपु अमरता का वरदान पाने के लिए घोर तप में संलग्न था। दानवों की पराजय हुई, कयाधू बन्दिनी हुई, ओले बरसे, भीषण आंधियां चलीं,

बिजली का गर्जन-तर्जन हुआ, किन्तु हिरण्यकशिपु का तप भंग नहीं हुआ। आखिर, उसकी दृढ़ता ने ब्रह्मा जी को प्रकट होने के लिए विवश कर दिया।

ब्रह्मा जी हिरण्यकशिपु के समक्ष प्रकट हुए। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में कहा— वर मांगो, मैं तुम्हारे तप पर प्रसन्न हूं।

हिरण्यकशिपु ने आंखें खोलकर ब्रह्मा जी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। उसने विनत भाव से कहा— पितामह, मुझे अमरता का वरदान दीजिये। मुझे न तो कोई मनुष्य मार सके, न देवता मार सके; मैं न रात में मरूं, न दिन में मरूं।

ब्रह्मा जी 'तथास्तु' कहकर अदृश्य हो गये। हिरण्यकशिपु की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। वह ब्रह्मा जी से अमरता का वरदान प्राप्त करके अपनी राजधानी लौट गया। वह मदोन्मत्त होकर अत्याचार करने लगा, साधुओं, सज्जनों और ऋषियों को कष्टों की आग में जलाने लगा; उसे क्या पता था, उसे ब्रह्मा जी से जो-कुछ प्राप्त किया है, वह कुछ नहीं है! भगवान वासुदेव यदि उसे मारना चाहेंगे, तो उनके लिए अभी बहुत-से साधन शेष हैं।

और यही हुआ। भगवान वासुदेव ने हिरण्यकशिपु के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर, नृसिंह रूप में गोधूलि में उसका वध किया। उसके वध से यह कहानी उभर कर सामने आयी कि इस जगत में कोई भी मृत्यु से नहीं बच सकता।

अतः मनुष्य को मृत्यु से बचने का उपाय न ढूंढ़ कर भगवान वासुदेव की भक्ति को प्राप्त करने का उपाय ही ढूंढ़ना चाहिए।

प्रह्लाद की दृढ़ता

(भगवान के भक्त की सदा विजय होती है।)

हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे। उसके सबसे छोटे पुत्र का नाम प्रह्लाद था। प्रह्लाद बाल्यावस्था में ही बड़े साधु प्रकृति के थे, श्री हरि के अनुरागी थे, सत्य बोलते थे और धर्माचरण करते थे। जब देखो, तब श्री हरि की ही चर्चा किया करते थे।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को अपनी गोद में बिठाकर उनसे पूछा— बेटा, तुम्हें कौन-सी वस्तु सबसे अधिक प्रिय लगती है?

प्रह्लाद ने उत्तर दिया— पिता जी, मुझे सबसे अधिक प्रिय भगवान श्री हरि की भक्ति लगती है। मैं चाहता हूं, दिन-रात उनके प्रेम और उनकी भक्ति का रसपान करता रहूं।

प्रह्लाद के कथन को सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोध से तिलमिला उठा। उसने उन्हें गोद से उतारते हुए कहा— दुष्ट, तुम्हें यह किसने सिखाया? तुम्हें उन श्री हरि की भक्ति अच्छी लगती है, जिन्होंने निर्दयतापूर्वक तुम्हारे चाचा का वध कर दिया था? तू मेरे कुल का कलंक है। मुझे तुम्हारी बुद्धि को ठीक करना पड़ेगा।

हिरण्यकशिपु ने उसी समय अपनी पाठशाला के गुरुओं को बुलाया। गुरुओं में एक का नाम संड और दूसरे का नाम अमर्त्य था। दोनों शुक्राचार्य के पुत्र थे, हिरण्यकशिपु की पाठशाला में शिक्षण का कार्य करते थे।

हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को गुरुओं को सौंपते हुए कहा— इसे ले जाइये। इसको ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे यह मेरे कुलधर्म का पालन कर सके, मेरे पथ पर चल सके।

गुरुओं ने प्रह्लाद को पाठशाला में ले जाकर पढ़ाना प्रारंभ किया। किन्तु गुरु जो-कुछ पढ़ाते थे, प्रह्लाद वह न पढ़कर बिलकुल उलटा पढ़ते थे। वे बात-बात में श्री हरि का नाम लेते थे। उन्हीं के नाम का उच्चारण करते थे और कहते थे— मैं श्री हरि के नाम को छोड़कर और कुछ नहीं पढ़ूंगा।

गुरुओं ने प्रह्लाद को अधिक डराया, धमकाया और ताड़ना भी दी, किन्तु

प्रह्लाद के हृदय पर किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे बड़ी दृढ़ता के साथ भगवान के प्रेम और भक्ति की प्रशंसा करते रहे।

जब गुरु प्रयत्न करते-करते थक गये, तो हार कर पुनः प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु के पास ले गये। उन्होंने हिरण्यकशिपु से कहा— महाराज, हमने प्रह्लाद को भली प्रकार से शिक्षित कर दिया है। अब आप इन्हें संभालें, इनकी देखरेख करें।

हिरण्यकशिपु ने गुरुओं के सामने ही प्रह्लाद से पूछा— बेटा, तुम्हारे गुरुओं ने तुम्हें क्या पढ़ाया है?

प्रह्लाद ने उत्तर दिया— पिता जी, मैंने जो-कुछ पढ़ा है उसका सार यह है— भगवान श्री हरि ही तीनों लोकों में सबसे बड़े हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी हैं। अतः प्राणियों को उन्हीं की भक्ति करनी चाहिए, उन्हीं के प्रेम के रस का पान करना चाहिए। उनकी भक्ति और उनके प्रेम को छोड़कर सब-कुछ व्यर्थ है, सब-कुछ निस्सार है।

प्रह्लाद के उत्तर को सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोध से उन्मत्त हो उठा। उसने क्रोध-भरी दृष्टि से गुरुओं की ओर देखते हुए कहा— तुमने यही पढ़ाया है मेरे पुत्र को? तुम मुझसे तो वृत्ति पाते हो और मेरे पुत्र को सिखाया है, मेरे शत्रु विष्णु का गुणगान करना? तुम दोनों ही विश्वासघाती हो। तुम्हें दंड भोगना पड़ेगा।

गुरुओं ने निवेदन किया— महाराज, हम निरपराध हैं। भगवान विष्णु की भक्ति आपके पुत्र की रग-रग में बसी हुई है। जो चीज रग-रग में बसी हुई हो, उसे हम कैसे दूर कर सकते हैं? हमने बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु प्रह्लाद के हृदय पर हमारी बातों का प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ा। हम हार गये हैं।

गुरुओं के कथन को सुनकर हिरण्यकशिपु गरज उठा— तुम हार गये हो, किन्तु हम नहीं हारे हैं। तुम कहते हो, विष्णु की भक्ति इसकी रग-रग में समायी हुई है। हम इसके उस शरीर को मिट्टी में मिला देंगे, जिसके भीतर विष्णु की भक्ति निवास करती है। वह हमारा पुत्र नहीं, शत्रु है। जो पुत्र कुल-धर्म के अनुसार आचरण न करे, उसे मिटा ही देना चाहिए।

हिरण्यकशिपु ने उसी समय अपने दैत्य सैनिकों को बुलाकर आदेश दिया— ले जाओ राजकुमार को हमारी आंखों के सामने से। इसे ऐसा कष्ट दो कि यह विष्णु के नाम को भूल जाये।

दैत्य सैनिक बालक प्रह्लाद का हाथ पकड़ कर निर्दयतापूर्वक उन्हें खींचते हुए ले गये, तरह-तरह की यातनाओं की आग में जलाने लगे। पहले उन्हें हाथी

गया, धमकाया गया। जब डराने और धमकाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, तो उन्हें एक ऐसी कोठरी में बन्द कर दिया गया, जिसमें विषैले सांप छोड़ दिये गये थे। किन्तु उन विषैले सांपों से प्रह्लाद का बाल तक बांका नहीं हुआ। प्रह्लाद ने उन विषैले सांपों को इस तरह अपने गले में डाल लिया, जिस तरह पुष्पों की मालाएं गले में डाली जाती हैं।

प्रह्लाद को पीने के लिए विष दिया गया। उन्होंने उस विष को अमृत के समान ही अपने गले के नीचे उतार लिया। जब विष का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, तो प्रह्लाद को हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाया गया, किन्तु हाथी के पैर भी उनके लिए फूल बन गये। जब हाथी के पैरों से भी प्रह्लाद को हानि नहीं पहुंची तो उन्हें पर्वत की चोटी पर से समुद्र में फेंक दिया गया। किन्तु वहां भी भगवान श्री हरि ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया।

जब समुद्र में फेंकने से भी प्रह्लाद को हानि नहीं पहुंची, तो उन पर तरह-तरह के अस्त्रों-शस्त्रों से प्रहार किये गये। वे अस्त्र-शस्त्र भी उनके लिए फूल-से कोमल बन गये थे। भगवान की भक्ति और उनका प्रेम हर संकट में उनके लिए कवच बन जाता था।

जब किसी भी यातना से प्रह्लाद को क्षति नहीं पहुंची, तो हिरण्यकशिपु की बहन होलिका उन्हें गोद में लेकर जलती हुई आग में जा बैठी। उसे आग में न जलने का वरदान प्राप्त था। किन्तु यह उपाय भी निष्फल सिद्ध हुआ। होलिका स्वयं तो आग में जल कर भस्म हो गयी, किन्तु प्रह्लाद का बाल तक बांका नहीं हुआ।

जब प्रह्लाद को मिट्टी में मिलाने के सारे उपाय निष्फल हो गये, तो हिरण्यकशिपु ने उन्हें शुक्राचार्य जी के आश्रम में भेजने का विचार किया। किन्तु वे उस समय आश्रम में नहीं थे। अतः हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को पुनः गुरुओं को सौंप दिया और कहा— चाहे जैसे भी हो, इसे हमारे रास्ते पर लाओ।

गुरुओं ने पुनः प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। किन्तु इस बार तो प्रह्लाद ने अपना अद्भुत चमत्कार दिखाया। उन्होंने उन सभी बालकों पर अपना प्रभाव डाल दिया, जो पाठशाला में पढ़ते थे। वे सभी दैत्य बालक भी उन्हीं की भांति भगवान विष्णु की भक्ति करने लगे, उनका नाम लेने लगे और उनके गुणों का गान करने लगे।

हिरण्यकशिपु के कानों में जब यह समाचार पड़ा, तो वह अपनेआप को भूल गया। वह निर्दयतापूर्वक प्रह्लाद को एक खंभे से बांध कर उन्हें यातना देने लगा। उन्हें सता-सताकर कहने लगा— श्री हरि का नाम लेना छोड़ दो। उनके स्थान पर

मेरा नाम लो। श्री हरि मेरे शत्रु हैं। उनके गुणों का गान न करके मेरे गुणों का गान करो।

प्रह्लाद हर एक यातना पर, हर एक कष्ट पर उत्तर देते— भगवान श्री हरि तीनों लोकों के स्वामी हैं। वे ही मेरे पिता हैं, वे ही मेरे पालक हैं, वे ही मेरे रक्षक हैं। मैं उनके नाम को छोड़ कर और किसी का भी नाम नहीं लूंगा और मैं उनके गुणों के गान को छोड़ कर और किसी के भी गुणों का गान नहीं करूंगा।

प्रह्लाद की दृढ़ता ने हिरण्यकशिपु को अधीर बना दिया। उसने सोचा, अब इसे अपने हाथों से ही मार डालना चाहिए। पर नहीं, एक बार उससे युद्ध करना चाहिए, जो इसका रक्षक है। यदि मैंने इसके रक्षक विष्णु को युद्ध में पराजित कर दिया, तो फिर वह अपनेआप ही मेरी बात को मान लेगा।

न दिन था, न रात थी। गोधूलि का समय था। गोधूलि में दिन और रात के मध्य का समय होता है। हिरण्यकशिपु हाथ में तलवार लेकर प्रह्लाद के समक्ष खड़ा हो गया, अभिमान-भरे स्वर में बोला— तुम्हें जिस भगवान का बड़ा गर्व है, बता, वह कहां है? देखता हूं, वह तुम्हें मेरे हाथों से कैसे बचाता है।

प्रह्लाद ने उत्तर दिया— पिताश्री, मेरा भगवान सब में है, सर्वत्र है। पृथ्वी में है, आकाश में भी है। चन्द्रमा में है, सूर्य में भी है। तारों में भी है, ग्रहों और उपग्रहों में भी है। मुझ में है, आप में है और सभी प्राणियों में भी है।

हिरण्यकशिपु ने क्रोधावेश में झल्लाकर कहा— क्या तुम्हारा भगवान इस खंभे में भी है, जिससे तू बंधा हुआ है?

प्रह्लाद ने उत्तर दिया— हां, पिता जी, मेरा भगवान इस खंभे में भी है। तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें मेरा भगवान विद्यमान न हो।

प्रह्लाद के कथन को सुनकर हिरण्यकशिपु बड़े जोर से गरज उठा— अच्छा, तेरा भगवान इस खंभे में भी है! अभी मैं तेरे भगवान को मिट्टी में मिलाये दे रहा हूं।

हिरण्यकशिपु ने उन्मत्तों की भांति तलवार से खंभे पर प्रहार किया। आश्चर्य, भयानक रव से आकाश गूंज उठा। रव के साथ ही साथ अद्भुत रूपधारी भगवान प्रकट हो उठे। उनका शरीर मनुष्य के समान था, किन्तु उनका मुख सिंह के समान था। उनके नख भी बड़े-बड़े थे। मनुष्य और सिंह के आकार का होने के ही कारण वे नृसिंह भगवान के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

नृसिंह भगवान ने प्रकट होकर हिरण्यकशिपु को पकड़ लिया। वे उसे धरती पर गिरा कर उसकी छाती पर बैठ गये। उन्होंने देखते-ही-देखते अपने तेज नखों

से उसके शरीर को चीर-फाड़ डाला। इस प्रकार उसका अन्त हो गया।

हिरण्यकशिपु के वध से पृथ्वी पुलकित हो उठी। देवताओं ने आकाश से फूलों की वृष्टि की।

चारों ओर नृसिंह भगवान का जयनाद होने लगा। अत्याचारी और अधर्मी का विनाश होने पर इसी प्रकार पृथ्वी पुलकित हो जाती है, इसी प्रकार देवता आनन्दित होकर पुष्पों की वृष्टि करते हैं।

गजेन्द्र-मोक्ष

(आर्त कंठ से निकली हुई पुकार भगवान के कानों में अवश्य पड़ती है।)

क्षीर सागर में त्रिकूट नाम का एक पर्वत था। पर्वत की उपत्यका में वरुण का आश्रम था। आश्रम के पास ही एक उपवन था, जिसका नाम ऋतुमान था। उपवन में भांति-भांति के फूलों और फलों के वृक्ष थे। सुगन्ध से भरी हुई हवाएं दिन-रात चला करती थीं। भांति-भांति के सुन्दर पक्षी अपने मधुर शब्दों से उसे मधुरता का लोक बनाये रहते थे।

उपवन में मृग, नीलगायें और हाथी भी रहा करते थे। हाथियों का एक समूह दिन-रात इधर-उधर विचरण कियां करता था। उनका यूथपति भी था, जिसे गजराज या गजेन्द्र कहते थे। गजेन्द्र बड़े ही डीलडौल और लम्बी सूंड़वाला था। वह था तो हाथी, किन्तु बड़ा बुद्धिमान और ज्ञानी, अच्छे विचारों वाला था।

उपवन के मध्य में एक सरोवर भी था, जो शीतल और चांदी के समान उज्ज्वल जल से भरा रहता था। सरोवर में कमलों के फूल भी खिले हुए थे, जिन पर भ्रमर मधुर शब्दों में गुंजार किया करते थे।

दोपहर का समय था, धूप तेज थी। गजेन्द्र को तृषा का अनुभव हुआ। वह पानी पीने के लिए सरोवर के तट पर जा पहुंचा।

गजेन्द्र सरोवर में सूंड़ डाल कर पानी पीने लगा। जब पानी पी चुका, तो उसे जल में क्रीड़ा करने की सूझी। वह सरोवर के भीतर घुस गया और सूंड़ से पानी उठा-उठा कर अपने ऊपर डालने लगा; जब स्वयं अच्छी प्रकार नहा चुका, तो किनारे पर खड़ी हथिनियों के ऊपर सूंड़ से पानी डालने लगा। उसे क्या पता था कि काल के समान प्रचंड मगर उसकी ओर क्रूरता-भरी दृष्टि से देख रहा है।

गजेन्द्र अपनी आनन्द-क्रीड़ा में मग्न था। सहसा ग्राह ने धीरे-धीरे उसके पास जाकर उसके पैर को अपने मुख से पकड़ लिया। वह गजेन्द्र को पकड़ कर गहरे जल की ओर खींचने लगा। खिंचाव से गजेन्द्र चकित हुआ। उसे पता चल

गया कि कोई भयानक जल जन्तु उसे गहरे पानी की ओर खींच रहा है।

गजेन्द्र ग्राह के खिंचाव से बचने का प्रयत्न करने लगा। वह बल लगाकर किनारे की ओर बढ़ने लगा। किन्तु ग्राह अपने घर— पानी में था और गजेन्द्र अपने घर— स्थल से बाहर था। यद्यपि गजेन्द्र बलवान था, किन्तु पानी के भीतर होने के कारण उसका बल नहीं लग रहा था।

अधिक बल लगाने पर भी गजेन्द्र का बस नहीं चल रहा था। वह गहरे पानी की ओर खिंचता जा रहा था— खिंचता जा रहा था। किनारे पर खड़ी हुई हथिनियों ने भी गजेन्द्र की सहायता की किन्तु फल नहीं निकला। ग्राह गजेन्द्र को गहरे पानी की ओर खींचे लिये जा रहा था, खींचे लिये जा रहा था।

गजेन्द्र ने जब यह देखा कि अब वह किसी प्रकार भी ग्राह से बच नहीं सकता, तो उसे प्रभु की याद आयी। उसने सोचा, इस समय निर्बलों के सहायक भगवान को छोड़कर दूसरा कोई उसे नहीं बचा सकता। वह आर्त कंठ से भगवान को पुकारने लगा—

हे निर्बलों के बल, मैं निर्बल आपकी शरण में हूं। इस समय मेरा बल काम नहीं कर रहा है। दया करके मेरी सहायता कीजिये, मुझे ग्राह के मुख से छुड़ाइये।

हे अशरण-शरण, मैं निराश्रित हूं। मुझे शरण देने वाला कोई नहीं है। आप दया के सागर हैं। मुझे अपनी शरण में लीजिये, ग्राह-रूपी काल के मुख से मुझे छुड़ाइये।

हे दीनबंधु, आप दीनों के भाई हैं, सखा हैं। मैं सबसे बड़ा दीन हूं। जगत में मेरा अपना कोई नहीं है। मैं सर्वहारा दीन आप को पुकार रहा हूं।

हे जगत के स्वामी, मेरी रक्षा कीजिये। हे तीनों प्रकार के दुःखों को नाश करने वाले, मेरे दुःख का नाश कीजिये। हे निर्भय, मुझे अपनी शरण में लेकर भयरहित बनाइये। हे कालजेता, इस कालरूपी ग्राह से मेरी रक्षा कीजिये।

आर्त कंठ से निकली हुई पुकार भगवान के कानों में जा पड़ी। भगवान श्री हरि गरुड़ पर सवार होकर आंधी के समान चल पड़े। वे शीघ्र ही जल में मृत्यु से जूझते हुए गजेन्द्र को दिखायी पड़े। गजेन्द्र ने अपनी सूंड़ से कमल का एक फूल तोड़कर भगवान हरि के चरणों की ओर बढ़ाते हुए कहा— प्रभो, मुझ निर्बल के कमल-पुष्प को स्वीकार कीजिये। मुझे ग्राह से बचाइये।

भगवान श्री हरि शीघ्र ही पानी में कूद पड़े। उन्होंने देखते-ही-देखते ग्राह को मार डाला। गजेन्द्र के मुख से छूट कर किनारे पर पहुंच गया, भगवान की ओर देखने लगा। किन्तु अब भगवान वहां कहां थे? वे गजेन्द्र को ग्राह के मुख से छुड़ा

कर अदृश्य हो गये थे।

ग्राह पूर्वजन्म में एक गंधर्व था। एक ऋषि के श्राप से ग्राह के रूप में पैदा हुआ था। इसी प्रकार गजेन्द्र भी अपने पूर्वजन्म में इन्द्रद्युम्न राजा था। किन्तु अगस्त्य ऋषि के श्राप के कारण हाथी की योनि में पैदा हुआ था। दोनों को ही पूर्वजन्म का स्मरण था।

भगवान श्री हरि का स्पर्श होने पर दोनों ही जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो गये, भगवान श्री हरि के दिव्य धाम में चले गये। भगवान श्री हरि की कृपा प्राप्त होने पर मनुष्य को मुक्ति तो मिल ही जाती है, दिव्य धाम की प्राप्ति भी होती है।

अत: मनुष्य को भगवान श्री हरि की कृपा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सागर-मंथन

(भगवान वासुदेव की कृपा से ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।)

असुरों ने युद्ध में देवताओं को पराजित कर दिया था। इन्द्रादि देवता पराजय के कष्टों को भोग रहे थे।

जब देवताओं के कष्ट अधिक बढ़ गये, तो वे सब ब्रह्मा जी की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने ब्रह्मा जी को अपने कष्टों की कहानी सुनाकर निवेदन किया—पितामह, हम देवता दानवों के अत्याचारों से अत्यधिक कष्ट पा रहे हैं, कृपया हमारी रक्षा कीजिये। हमें कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे हम कष्टों से मुक्ति पा सकें।

पितामह ने उत्तर दिया—देवताओ, हमारी तुम्हारे प्रति पूर्ण सहानुभूति है, किन्तु समय बड़ा प्रबल होता है। समय दैत्यों के पक्ष में है। अतः तुम्हें बड़ी बुद्धिमानी के साथ काम करना चाहिए। चलो, श्री हरि के पास चलें। वे ही तुम्हें कष्टों से मुक्ति पाने का उपाय बता सकते हैं।

इन्द्रादि देवता ब्रह्मा जी के साथ श्री हरि की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने श्री हरि के गुणों का गान करते हुए कहा—हे अशरण-शरण, हे तीनों तापों के हर्ता, हम देवता आपकी शरण में हैं। आप हमारे स्वामी हैं। हम आप ही के बल से बलवान और आप ही की कृपा से ज्ञानवान हैं। हम पर दया कीजिये। हम असुरों के अत्याचारों से बहुत दुःख पा रहे हैं। दया करके हमारी रक्षा कीजिये, हमें असुरों के अत्याचारों की आग में जलने से बचाइये।

देवताओं की प्रार्थना को सुनकर भगवान श्री हरि ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—देवताओ, हमारा आशीर्वाद तुम्हें प्राप्त है, किन्तु तुम्हें भी इस समय विवेक से काम लेना होगा। जब शत्रु प्रबल हो और समय अपने विपरीत हो, तो शत्रु से युद्ध न करके उससे संधि करने का प्रयत्न करना चाहिए। तुम्हें भी इस समय दानवों से युद्ध न करके, समझौता करना चाहिए।

तुम सब दानवों के राजा बलि के पास जाओ। उसे अमृत का लालच देकर,

उससे समझौता करो। तुम देवता और दानव— मंदराचल पर्वत को मथानी और शेषनाग को मथानी की डोरी बनाकर सागर का मंथन करो। मंथन से सागर के भीतर से अमृत निकलेगा। हम उस अमृत को देवताओं को पिला देंगे। जब देवता अमृत पीकर अमर बन जायेंगे, तो वे सहज में ही असुरों को युद्ध में हरा देंगे।

भगवान श्री हरि की सलाह से इन्द्रादि देवता दानवों के अधिपति बलि की सेवा में उपस्थित हुए। बलि ने तीनों लोकों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा था। यद्यपि वह दैत्यों का राजा था, पर भगवान श्री हरि का भक्त था, अच्छे विचारों का था। इन्द्रादि देवताओं ने बलि को समुद्र-मंथन की अपनी योजना बताकर कहा— समुद्र-मंथन से अमृत इत्यादि जो वस्तुएं प्राप्त होंगी, हम और दैत्य उन्हें बराबर आपस में बांट लेंगे।

भगवान श्री हरि की कृपा से बलि को देवताओं की योजना पसन्द आ गयी। वह सागर-मंथन में योग देने के लिए तैयार हो गया।

फलतः देवता और दानव मंदराचल पर्वत को लेने के लिए उसके पास उपस्थित हुए, किन्तु वह इतना भारी था कि देवता और दानव दोनों के अधिक बल लगाने पर भी ऊपर नहीं उठ सका।

देवताओं की आकुलता को समझकर भगवान श्री हरि शीघ्र ही गरुड़ पर वहां उपस्थित हुए। उन्होंने देखते-ही-देखते मंदराचल पर्वत को उठा कर गरुड़ की पीठ पर लाद दिया। भगवान श्री हरि ने मंदराचल पर्वत को ले जाकर सागर में डाल दिया।

मंदराचल की समस्या हल होने पर देवता और दानव शेषनाग की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने शेषनाग को अपनी योजना बताकर कहा— सागर-मंथन से जो अमृत प्राप्त होगा, हम उसमें आपका भी भाग लगायेंगे। अतः मंदराचल रूपी मथानी में डोरी बनना स्वीकार करने की कृपा करें।

अमृत में भाग पाने के प्रलोभन से शेषनाग ने डोरी बनना स्वीकार कर लिया। शेषनाग मंदराचल रूपी मथानी में डोरी की तरह लिपट गये। देवता और दानव जब शेषनाग रूपी डोरी को पकड़ कर मंदराचल रूपी मथानी को पकड़ कर चलाने लगे, तो मथानी रह-रह कर ऊपर उछलने लगी। देवताओं के समक्ष पुनः संकट उपस्थित हुआ। भगवान श्री हरि ने इस संकट को भी दूर किया। वे कच्छप का रूप धारण करके सागर के पानी में जा पहुंचे। उन्होंने अपनी वज्र के समान सुदृढ़ और विशाल पीठ पर मंदराचल पर्वत को धारण कर लिया।

भगवान श्री हरि का यह कच्छप अवतार बड़ा वन्दनीय है। वे अपने भक्तों

और सज्जनों की रक्षा के लिए शूकर तो बने ही थे, अब कच्छप भी बन गये। भगवान की दयालुता की जितनी भी अधिक प्रशंसा की जाये, कम ही होगी। वे अपनी दयालुता से ही वन्दनीय हैं, प्रशंसनीय हैं।

जब भगवान-रूपी कच्छप ने मंदराचल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण कर लिया, तो देवता और दानव पुन: शेषनाग रूपी डोरी को पकड़ कर मथानी को चलाने लगे। देवताओं ने शेषनाग को मुख की ओर पकड़ रखा था। दानवों ने समझा कि इसमें देवताओं की कोई चाल है। अत: उन्होंने विरोध करते हुए कहा—मुख की ओर देवता नहीं, हम दानव रहेंगे; क्योंकि हम दानव देवताओं से श्रेष्ठ हैं, हमारा तीनों लोकों पर राज्य तो है ही, हमने देवताओं को युद्ध में पराजित किया है।

भगवान श्री हरि तो यह चाहते ही थे। उन्होंने जानबूझ कर देवताओं को शेषनाग के मुख की ओर लगाया था। वे जानते थे कि दानव इसका विरोध करेंगे और वे स्वयं मुख की ओर लगने की मांग करेंगे।

जब दैत्य शेषनाग के मुख की ओर लगे, तो श्री हरि यह सोचकर बड़े प्रसन्न हुए, कुछ दानव तो सांस लेने पर शेषनाग के मुख में चले जायेंगे और कुछ दानव उनके मुख से निकली हुई विष की ज्वाला में जलकर भस्म हो जायेंगे। मद में मस्त दानवों को रहस्य की बात कैसे समझ में आ सकता थी? वैभव और अधिकार के मद में सारा विवेक नष्ट हो जाता है।

दानव और देवता एक साथ मिलकर मथानी को चलाने लगे। सर्वप्रथम सागर के भीतर से हलाहल निकला। ऐसा हलाहल निकला, जिसकी ज्वालाएं आकाश को चूम रही थीं। देवता व्याकुल हो उठे, दानव भी व्याकुल हो उठे और जगत के समस्त प्राणी भी व्याकुल हो उठे। चारों ओर हाहाकार पैदा हो गया। ऐसा लगने लगा कि समुद्र से निकले हुए विष की ज्वालाओं से सृष्टि जलकर भस्म हो जायेगी।

भगवान श्री हरि आगे बढ़े। उन्होंने देवताओं और दानवों से कहा—इस हलाहल को पान करने की शक्ति भगवान शंकर को छोड़कर और किसी में भी नहीं है। अत: सब मिलकर भगवान शंकर की सेवा में जाओ। उनसे प्रार्थना करो कि वे इस भयानक कालकूट का पान करके जगत का कल्याण करें। वे बड़े दयालु हैं। उनका नाम शिव है। वे अवश्य तुम्हारी प्रार्थना को स्वीकार करेंगे, जगत का कल्याण करेंगे।

श्री हरि की सलाह से देवता और दानव शिवजी की सेवा में उपस्थित हुए।

उन्होंने उनका स्तवन करते हुए कहा—हे कैलाशपति, आप दया के सागर हैं। आप उन पर दया करते हैं, जिन पर कोई दया नहीं करता। आप त्रैतापहारी हैं, सभी प्राणियों के कल्याणकथा हैं। समुद्र से निकले हुए कालकूट की ज्वाला से हम सबको बचाइये, जगत के प्राणियों की रक्षा कीजिये।

शिवजी ने देवताओं की प्रार्थना से द्रवित होकर लोक-कल्याण के लिए कालकूट को अंजलि में लेकर पी लिया। लोक-कल्याण के लिए पान किया हुआ कालकूट उनके कंठ में स्थित होकर, उनका सौंदर्य बन गया। उसी दिन से वे नीलकंठ के नाम से सम्बोधित किये जाने लगे।

कालकूट का प्रश्न हल होने के पश्चात् देवता और दानव पुनः समुद्र का मंथन करने लगे। समुद्र के भीतर से एक-एक करके तेरह रत्न और बाहर निकले, जिन्हें देवताओं और दानवों ने आपस में बांट लिया। कामधेनु को ऋषियों ने, कल्पवृक्ष को देवताओं ने, उच्चैश्रवा अश्व को बलि ने, ऐरावत हाथी को इन्द्र ने, वारुणी को दैत्यों ने, कौस्तुभ मणि को भगवान विष्णु ने, और अप्सराओं को देवता तथा दानवों ने लिया। धनवन्तरि वैद्य आयुर्वेद के जन्मदाता बने। जब अमृत का कलश बाहर निकला, तो देवता और दानव दोनों में द्वन्द्व मच गया। देवता और दानव दोनों ही अमृत-कलश को लेना चाहते थे। दानव देवताओं से अधिक बलवान थे, अतः उन्होंने अमृत-कलश पर अधिकार कर लिया।

दानव अमृत के लिए आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। प्रत्येक दानव सबसे पहले और सबसे अधिक अमृत पीना चाहता था। भगवान श्री हरि ने सोचा, यदि दानव अमृत पी गये, तो फिर संसार में उनका अत्याचार बढ़ जायेगा और देवता सदा-सदा के लिए संकट में फंस जायेंगे। अतः भगवान ने दानवों के हाथों से अमृत के कलश को छीनने का निश्चय किया।

भगवान श्री हरि मोहनी स्त्री के रूप में प्रकट हुए। दानवों ने जब श्री हरि-रूपी स्त्री को देखा, तो वे उस पर मुग्ध हो गये, उसे देखकर अपनेआप को भूल गये। उन्होंने उसके पास जाकर प्रार्थना की—हम सबमें अमृत के लिए कलह हो रहा है। हम सब आपको अपना पंच मानते हैं। आप कृपा करके हम सब में अमृत का वितरण कर दें।

श्री हरि-रूपी मोहिनी स्त्री ने उत्तर दिया—हमें तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार है, किन्तु तुमको भी मेरी बात माननी पड़ेगी। मैं जो-कुछ करूंगी, तुम सबको स्वीकार करना पड़ेगा।

दानव मोहिनी के रूप और सौंदर्य पर आसक्त थे। उन्होंने सोच-विचार किये

बिना ही मोहिनी की बात मान ली।

श्री हरि-रूपी मोहिनी ने दानवों और देवताओं को अलग-अलग पंक्ति में बैठा दिया। मोहिनी स्त्री देवताओं को तो अमृत पिलाने लगी, किन्तु दानवों को उसने अपने मधुर-मधुर वचनों में ही भुलाये रखा। राहु नाम दैत्य ने जब यह देखा कि मोहिनी स्त्री देवताओं को अमृत पिला रही है, तो वह सूर्य और चन्द्रमा के बीच में जा बैठा। ज्यों ही श्री हरि-रूपी मोहिनी ने राहु की अंजलि में अमृत डाला, त्यों ही सूर्य और चन्द्रमा ने संकेत से भगवान को बता दिया, यह देवता नहीं दैत्य है।

भगवान ने शीघ्र ही अपने चक्र से उसका मस्तक काट लिया। कहा जाता है, उसने अमृत का पान कर लिया था। वह अब भी अमर है और समय-समय पर सूर्य और चन्द्रमा से बदला लिया करता है।

इस प्रकार भगवान श्री हरि ने समुद्र का मंथन करा कर समुद्र से निकले हुए अमृत को देवताओं को पिला दिया। अमृत पीकर देवता अमर बन गये। फिर तो देवताओं ने दैत्यों को युद्ध में तो हरा ही दिया, उनका सब-कुछ छीन कर उन्हें सर्वहारा बना दिया।

भगवान श्री हरि इसी प्रकार दैत्यों, अधर्मियों और अत्याचारियों का सब-कुछ छीनकर उन्हें पथ का भिखारी बनाया करते हैं। भगवान की इस लीला के ही कारण जगत में सत्य और धर्म की रक्षा होती रहती है।

देवासुर संग्राम

(विजय सज्ज्नों की ही होती है।)

श्री हरि ने जिस प्रकार देवताओं को अमृत का पान कराया, उससे दैत्यों में असंतोष उत्पन्न हो उठा। उन्होंने अनुभव किया कि उनसे छल और विश्वासघात किया गया है। अत: उन्होंने क्षुब्ध होकर देवताओं पर आक्रमण कर दिया। अमृत का पान करने से देवता अब तेजवान और बलवान बन गये थे। अत: उन्होंने बड़ी वीरता के साथ दैत्यों का सामना किया। देवताओं और दैत्यों में भयानक युद्ध होने लगा। देवताओं और दैत्यों का वही युद्ध देवासुर संग्राम के नाम से प्रसिद्ध है।

असुरों और देवताओं में भयंकर युद्ध होने लगा। दोनों एक-दूसरे पर तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने लगे। दानव देवताओं से प्रबल थे। उनके पास अस्त्र-शस्त्र भी अधिक थे। तीनों लोकों में उनका राज्य भी था। पर देवता भी कुछ कम नहीं थे। वे कई बार युद्ध में असुरों को पराजित कर चुके थे। श्री हरि की कृपा भी उन्हें प्राप्त थी। अत: वे भी बड़े साहस और उत्साहपूर्वक असुरों के विनाश में लग गये। असुरों का राजा बलि था। उसके पास मय नामक दानव का बनाया हुआ वैहायस नामक विमान था। वह अपने सेनापतियों के साथ विमान पर चढ़कर युद्ध के मैदान में उतरा। फिर तो दो-दो वीर आमने-सामने डटकर एक-दूसरे पर अस्त्र-शस्त्र चलाने लगे।

बलि इन्द्र से, तारकासुर कार्तिकेय से हेति वरुण से, और प्रहेति मित्र से भिड़ गया। मार-काट होने लगी, अस्त्र-शस्त्र चलने लगे। दोनों ही दल के वीर एक-दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न करने लगे। युद्ध का मैदान रक्त से लाल हो गया, कटे हुए मुंडों और धड़ों से पट गया।

बलि ने क्रोधोन्मत्त होकर अठारह बाण चलाये। दस बाण इन्द्र पर, तीन बाण एरावत पर, एक बाण ऐरावत के महावत पर और चार बाण उसके रक्षकों पर चलाये।

यद्यपि बलि के बाण बड़े विषैले और विनाशकारी थे, किन्तु उन बाणों का प्रभाव इन्द्र और ऐरावत पर बिलकुल नहीं पड़ा। इन्द्र ने देखते-ही-देखते उन बाणों

को काटकर प्रभावहीन बना दिया। अपने बाणों को प्रभावहीन और निष्फल देखकर बलि अत्यधिक क्रुद्ध हो उठा। वह अदृश्य होकर आसुरी माया का प्रयोग करने लगा। आकाश से प्रलयकारी अग्निवर्षा होने लगी। प्रबल वेग से वायु भी चलने लगी। वायु के कारण अग्नि की लपटें देव-सेना की ओर इस प्रकार बढ़ने लगीं, मानो प्रलयकाल का समुद्र अपनी ऊंची-ऊंची लहरों के साथ उमड़ कर देव-सेना को घेरने का प्रयत्न कर रहा हो।

बलि की इस आसुरी माया को देखकर देवता समाकुल हो उठे। उन्होंने उसे नष्ट करने का बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु उनका कुछ बस नहीं चल सका। वे अधीर हो गये। आखिर, उन्होंने भगवान श्री हरि का स्मरण किया। भगवान युद्धभूमि में प्रकट हुए। उनके प्रकट होने मात्र से ही अग्नि का उफनता हुआ सागर शान्त हो गया। आसुरी माया नष्ट हो गयी।

स्वयं भगवान श्री हरि को युद्ध के मैदान में देखकर कालनेमि क्रुद्ध हो उठा। उसने त्रिशूल से भगवान पर प्रहार किया, किन्तु उसका त्रिशूल भगवान तक पहुंचे, उसके पूर्व ही उन्होंने उस त्रिशूल को अपने हाथ में लेकर, उसी के द्वारा कालनेमि के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

बलि की आसुरी माया को देखकर इन्द्र की रगों में बिजली दौड़ गयी। उन्होंने अपना वज्र हाथ में लिया। इन्द्र के हाथ में वज्र को देखकर दैत्यों की सेना में हाहाकार पैदा हो गया। क्योंकि यह वही वज्र था, जिसके द्वारा इन्द्र ने वृत्रासुर का विनाश किया था।

इन्द्र ने हाथ में वज्र को लेकर बलि को धिक्कारते हुए कहा—मूर्ख, तू अपनी आसुरी माया से हम देवताओं का सर्वनाश करना चाहता था! तुम्हें मालूम होना चाहिए था कि हम देवता माया-पति भगवान श्री हरि के सेवक हैं। तुम्हारी माया हमारा कुछ भी अमंगल न कर सकेगी। अब तू सावधान हो जा। मेरे वज्र से अब तुम्हें कोई भी बचा नहीं सकेगा।

बलि ने इन्द्र के कथन का उत्तर देते हुए कहा—देवराज, हम युद्ध करना अपना कर्म समझते हैं। हमारी जय हो या पराजय हो—हमें इसकी बिलकुल चिन्ता नहीं है। हम न विजय से हर्षित होते हैं, न पराजय से दुखी होते हैं। हम मृत्यु से भी भयभीत नहीं होते। हम केवल कर्म में आस्था रखते हैं। किन्तु तुम देवता तो अपने को कर्ता समझ कर जैसे हर्षित और पराजय से दुखित होते हो। विद्वानों और सज्जनों के निकट तुम निन्दनीय हो।

बलि की फटकार को सुनकर इन्द्र अपने को रोक नहीं सके। उन्होंने बलि पर अपना वज्र चला दिया। बलि की मृत्यु तो नहीं हुई, किन्तु वह आहत होकर

धाराशायी हो गया। बलि को धराशायी देखकर जम्भासुर क्रोध से कांप उठा। वह इन्द्र पर बाज की तरह झपट पड़ा। किन्तु इन्द्र ने अपने पैने वज्र से उसका भी मस्तक काट कर फेंक दिया।

जंभासुर की मृत्यु का समाचार जब उसके भाई-बन्धुओं को मिला तो वे भी क्रुद्ध होकर युद्ध के मैदान में जा पहुंचे और बड़ी वीरता के साथ युद्ध करने लगे। इन्द्र ने अपने वज्र से उनका भी वध कर दिया।

अपने भाई-बन्धुओं के वध से नमुचि क्रुद्ध हो उठा। वह बड़ा शूरवीर और साहसी था। इन्द्र से युद्ध करने के लिए वह उनके सामने जा पहुंचा। उसने त्रिशूल से इन्द्र पर प्रहार किया; किन्तु इन्द्र ने अपने वज्र से उसके त्रिशूल के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

इन्द्र ने कुपित होकर नमुचि पर वज्र चलाया। किन्तु, आश्चर्य, नमुचि के शरीर पर खरोंच तक नहीं आयी। इन्द्र चिन्तित होकर सोचने लगे, उन्होंने अपने जिस वज्र से बड़े-बड़े दैत्यों का विनाश किया है और जिससे वृत्रासुर मारा गया है, वह नमुचि पर क्यों निष्फल सिद्ध हुआ, क्यों?

इन्द्र सोच रहे थे कि आकाशवाणी हुई—देवराज, नमुचि की मृत्यु न तो किसी बिलकुल सूखी वस्तु से हो सकथाएँ है, न बिलकुल गीली वस्तु से। इसकी मृत्यु के लिए कोई और उपाय सोचिये।

आकाशवाणी को सुनकर इन्द्र का ध्यान समुद्र के फेन की ओर गया। उन्होंने सोचा, समुद्र का फेन सूखा भी है और गीला भी। अतः इन्द्र ने समुद्र के फेन से नमुचि का वध कर दिया।

देवताओं के द्वारा असुरों का विनाश होते हुए देखकर ब्रह्मा जी चिन्तित हो उठे। उन्होंने सोचा, इस प्रकार दैत्यों का वंश ही समाप्त हो जायेगा। अतः उन्होंने देवताओं को सलाह दी, वे युद्ध बन्द कर दें।

ब्रह्मा जी की सलाह को मान कर देवताओं ने युद्ध बन्द कर दिया। वे युद्ध बन्द करके अपने-अपने लोक में चले गये।

उधर बलि के सैनिक उसे युद्ध के मैदान से उठाकर अस्ताचल ले गये। शुक्राचार्य जी ने अपनी संजीवनी से बलि को स्वस्थ तो कर ही दिया, उसके मृत सैनिकों को भी जीवित कर दिया। यद्यपि बलि युद्ध में आहत हो गया था, पराजित हो गया था; किन्तु उसे रंचमात्र भी दुःख नहीं हुआ, क्योंकि वह कर्म में आस्था रखता था। जो लोग कर्म में आस्था रखते हैं, वे इसी प्रकार न तो अच्छे फल से हर्षित होते हैं और न बुरे फल से दुखित होते हैं। वे अच्छे और बुरे फल पर ध्यान न देकर केवल कर्म करते हैं, केवल कर्म करते हैं।

वामन अवतार

(धर्म के अभ्युदय और अधर्म के विनाश के लिए भगवान बार-बार जन्म धारण करते हैं।)

बलि प्रह्लाद का पौत्र और विरोचन का पुत्र था। यद्यपि उसका जन्म दैत्य वंश में हुआ था, किन्तु वह भगवान का अनन्य भक्त था। उसकी धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा थी। वह सदा सत्य के पथ पर चलता था।

बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य जी के आश्रम में जाकर उनकी बड़ी सेवा की। शुक्राचार्य जी ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उससे एक यज्ञ कराया। उस यज्ञ का नाम अभिजित यज्ञ था। आश्चर्य, महान आश्चर्य! यज्ञकुंड के भीतर से कई बहुमूल्य वस्तुएं बाहर निकलीं, जिनमें कवच, रथ, धनुष और कभी न खाली होने वाला तरकस मुख्य था। बलि के पितामह ने यज्ञमंडप में उपस्थित होकर एक ऐसी माला प्रदान की, जिसके पुष्प कभी भी मुरझाने वाले नहीं थे।

बलि ने बड़ी श्रद्धा के साथ माला और कवच को धारण किया। उसने रथ पर बैठकर और हाथ में धनुष-बाण लेकर पृथ्वी और पाताल लोक पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसके पास बहुत बड़ी बलवती सेना भी एकत्र हो गयी।

पृथ्वी और पाताल लोक पर अधिकार करने के पश्चात् बलि ने इन्द्रलोक पर दृष्टि डाली। वह अपनी विशाल और बलवती सेना लेकर इन्द्रलोक जा पहुंचा। उसने चारों ओर से इन्द्रलोक को घेर लिया।

बलि के आक्रमण से देवराज इन्द्र समाकुल हो उठे। उन्होंने अपने गुरु बृहस्पति के पास जाकर उनसे पूछा— गुरुवर, बलि ने अपनी बहुत बड़ी सेना के साथ इन्द्रलोक को चारों ओर से घेर लिया है। बताइये, मुझे क्या करना चाहिए।

देवगुरु बृहस्पति ने उत्तर दिया— देवराज, समय बड़ा प्रबल होता है। समय के समक्ष किसी का भी वश नहीं चलता। इस वक्त समय बलि के पक्ष में है। उससे युद्ध करने में पराजय तो मिलेगी ही, हानि भी होगी। अतः अच्छा यही होगा

कि जब तक समय विपरीत रहे, इन्द्रलोक को छोड़ दिया जाये, बलि से युद्ध न किया जाये। समय अनुकूल होने पर सब-कुछ अपनेआप ही ठीक हो जायेगा।

देवगुरु बृहस्पति की सलाह को मानकर देवराज इन्द्र ने इन्द्रलोक को खाली कर दिया।

इन्द्रलोक पर बलि का अधिकार स्थापित हो गया।

बलि तीनों लोकों का स्वामी बन गया। तीनों लोकों में उसके नाम और उसके प्रताप का डंका बजने लगा।

बलि जब तीनों लोकों का अधिपति बन गया, तो शुक्राचार्य जी ने उसे अश्वमेध यज्ञ करने की सलाह दी। शुक्राचार्य जी की सलाह से बलि अश्वमेध यज्ञ के लिए आयोजन करने लगा। बड़े-बड़े भृगुवंशी विद्वान ब्राह्मण बनाये गये। यज्ञ के लिए नर्मदा के तट पर भृगुकक्ष नामक स्थान को चुना गया, जो यज्ञ के लिए सर्वथा उपयुक्त था। यज्ञ होने लगा। मंत्रों के उच्चारण के साथ ही साथ यज्ञ के कुंड में आहुतियां दी जाने लगीं। यज्ञ के कुंड से उठा हुआ धुआं वातावरण को सुवासित करने लगा।

उधर जब इन्द्रलोक पर बलि का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो देवता संकट में पड़ गये। वे दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए इधर-उधर घूमने लगे।

देवमाता अदिति को जब अपने पुत्रों की दुरवस्था का समाचार मिला, तो वे बड़ी दुखी हुईं। उनके मुखमंडल पर चिन्ता और उदासी छा गयी। वे दिन-रात सोच-विचार में पड़ी रहती थीं— कौन-सा उपाय किया जाये, जिससे पुत्रों पर आया हुआ संकट दूर हो।

अदिति के मुखमंडल पर उदासी और चिन्ता को देखकर एक दिन महर्षि कश्यप ने उनसे पूछा— अदिति, आजकल तुम्हारे मुखमंडल पर सदा उदासी और चिन्ता छायी रहती है। क्या मैं इसका कारण जान सकता हूं?

अदिति ने उत्तर दिया— स्वामी, आप त्रिकालज्ञ हैं, सब-कुछ जानते हैं। फिर भी अनजानों की तरह पूछ रहे हैं, तो सुनिये— दैत्यों ने मेरे पुत्रों का राज्य छीन लिया है। मेरे पुत्र इस समय बड़े संकट में हैं। कृपा करके कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मेरे पुत्रों का संकट दूर हो।

महर्षि कश्यप ने उत्तर दिया— अदिति, मुझे सब-कुछ मालूम है। मेरी सहानुभूति तुम्हारे पुत्रों के प्रति है, क्योंकि वे धर्मात्मा और पुण्यात्मा हैं। इस समय बलि दैत्यों का नृपति है। वह भगवान का बड़ा भक्त है। अतः इस समय भगवान को छोड़कर कोई भी बलि को परास्त नहीं कर सकता। तुम भगवान वासुदेव की

शरण में जाओ, उनकी आराधना करो। मैं तुम्हें आराधना के लिए मंत्र और नियम बताये दे रहा हूं। भगवान बड़े दयालु हैं। वे तुम्हारी आराधना से प्रसन्न होकर तुम्हारे पुत्रों का संकट अवश्य दूर करेंगे।

महर्षि कश्यप ने अदिति को भगवान की आराधना का मंत्र और नियम बता दिये।

अदिति बड़ी निष्ठा से आराधना में संलग्न हो गयी। पुत्रों के कल्याण के लिए उसने खाना-पीना सब-कुछ छोड़ दिया। वह केवल वायु के सहारे रहने लगी।

अदिति के प्रेम और उसकी भक्ति पर भगवान मुग्ध हो उठे। उन्होंने उसके समक्ष प्रकट होकर कहा— अदिति, मैं तुम्हारे प्रेम और तुम्हारी भक्ति पर बहुत प्रसन्न हूं। बोलो, तुम्हें क्या चाहिए? अदिति ने आंसू बहाते हुए उत्तर दिया— प्रभो, जब आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे और क्या चाहिए? बस, अपना प्रेम और अपनी भक्ति देते रहिए। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिए।

अदिति के नेत्रों से अश्रु-बूंदें गिरने लगीं, रह-रहकर गिरने लगीं। भगवान ने उन बूंदों की ओर देखते हुए कहा— अदिति, मैं तुम्हारे मन की पीड़ा को जानता हूं। घबराओ नहीं। मैं शीघ्र ही तुम्हारी गोद में वामन के रूप में जन्म धारण करूंगा, तुम्हारे पुत्रों को संकटों से मुक्ति दिलाऊंगा।

भगवान अदिति को आश्वस्त करके अदृश्य हो गये। अदिति भगवान के जन्म-धारण की प्रतीक्षा करने लगी, बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगी।

प्रभात के पहले का कुछ समय था। सूर्योदय हो रहा था। पक्षी मधुर कंठों में बोल रहे थे। मन्द-मन्द वायु चलने लगी थी। भगवान वासुदेव वामन के रूप में अदिति की गोद में प्रकट हो गये। उनका सुन्दर श्याम शरीर था। बड़े-बड़े नेत्र थे। चमकता हुआ मुखमंडल था, विशाल वक्षस्थल था, लम्बी-लम्बी भुजाएं थीं और सिर पर बड़े-बड़े बाल थे। वे देखने में बालसूर्य की तरह ज्ञात हो रहे थे।

वामन भगवान के जन्म धारण करने पर देवताओं ने उनकी भूरि-भूरि वन्दना की। इतना ही नहीं, उन्होंने भेंट के रूप में उन्हें तरह-तरह के आयुध भी प्रदान किये। उनके माता-पिता ने उनका उपनयन संस्कार भी किया। तत्पश्चात् वामन भगवान अपनी माता को प्रणाम करके नर्मदा के तट पर उस स्थान की ओर चल पड़े, जहां बलि अश्वमेध यज्ञ कर रहा था।

वामन भगवान मूंज की करधनी पहने हुए थे। उनके गले में यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था। वे अपने पैरों में पादुका धारण किये हुए थे, सिर के ऊपर छाता लगाये हुए थे, देखने में ऐसे लग रहे थे कि मानो ब्रह्मचारी वटुक हों।

वामन भगवान जब अपने इस वेश में बलि के यज्ञमंडप में पहुंचे, तो सभी भृगुवंशी ब्राह्मणों और विद्वानों ने उठ कर उनका स्वागत किया। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर नक्षत्र तेजहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार वामन भगवान के यज्ञमंडप में उपस्थित होने पर सभी विद्वान ब्राह्मण और ऋषि तथा मुनिगण तेजहत हो गये। सभी ने उठकर उनका स्वागत तो किया ही, उनकी अभिवन्दना भी की।

स्वयं बलि ने उठकर वामन भगवान को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हुए कहा— आप ब्रह्मचारी के अनुपम वेश में कौन हैं? ऐसा ज्ञात हो रहा है, मानो स्वयं नारायण ने ही आपके रूप में मेरे यज्ञमंडप में प्रवेश किया हो। आपके आगमन से मुझे सभी पुण्यों का फल प्राप्त हो गया। यद्यपि अभी अश्वमेध यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है, किन्तु आपके आगमन से ऐसा लग रहा है कि मुझे यज्ञों का फल प्राप्त हो गया है। आपने यहां आकर मेरे जीवन को धन्य कर दिया।

बलि ने वामन भगवान को सुन्दर आसन पर बिठाकर उनके चरण धोये। बार-बार चरणामृत का पान किया। वह ऐसा प्रसन्न हुआ, मानो उसे जीते-जी ही मुक्ति प्राप्त हो गयी हो।

बलि ने वामन भगवान के चरणों को धोने के पश्चात् निवेदन किया— अवश्य, आप किसी आवश्यकता से ही विवश होकर यहां आये हुए हैं। आप जो भी चाहें, मुझसे मांग सकते हैं। मैं आपको सब-कुछ दे सकता हूं।

वामन भगवान ने उत्तर में कहा— महाराज बलि, आपने जो-कुछ कहा है, अपने कुल की मर्यादा और परंपरा के अनुसार ही कहा है, आपके पितामह प्रह्लाद महान दानी और धर्मात्मा हैं। आपके पिता विरोचन की गणना सर्वश्रेष्ठ दानियों में की जाती है। आप स्वयं महान धर्मात्मा और पुण्यात्मा हैं। मैं ब्रह्मचारी हूं। ब्रह्मचारी को धन और वैभव की आवश्यकता नहीं होती। मैं आपसे केवल तीन पग पृथ्वी चाहता हूं। उसी के लिए मैं यहां उपस्थित हुआ हूं।

बलि ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया— आपमें बुद्धि और ज्ञान तो वृद्धों के सदृश है, किन्तु आपकी बातें बालकों के सदृश लग रही हैं। जो तीनों लोकों के स्वामी से तीन पग पृथ्वी मांगे, उसे बालक के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है! आपको मुझसे सोना, चांदी, मणि और मुक्ताएं मांगनी चाहिए। किन्तु आप मुझसे तीन पग पृथ्वी मांग रहे हैं। आपकी इस मांग पर मुझे हँसी आ रही है।

वामन भगवान ने गंभीर वाणी में कहा— महाराज बलि, आवश्यकता से अधिक मांगना अच्छा नहीं होता। सच है, आप मुझे सब-कुछ दे सकते हैं, किन्तु मुझे तो केवल तीन पग पृथ्वी की ही आवश्यकता है। मैं इससे अधिक लेकर क्या

करूंगा!

बलि बोला— अच्छी बात है। तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है, तो तीन पग पृथ्वी ही लीजिये। आपकी इच्छा! मैं आपको विवश कैसे कर सकता हूं!

बलि ने तीन पग पृथ्वी देने का संकल्प करने के लिए अपनी अंजलि में जल लिया। वह संकल्प करे उससे पूर्व ही शुक्राचार्य जी बोल उठे— ठहरो बलि, इन्हें तीन पग पृथ्वी देने का संकल्प मत करो। मैं इन्हें पहचान रहा हूं। यह वामन के रूप में भगवान विष्णु हैं। यह देवताओं के कल्याण के लिए तुम्हें छलने आये हैं। यह अपने तीन पगों में तुम्हारा तीनों लोकों का राज्य नाप कर तुम्हें पथ का भिखारी बना देंगे।

बलि ने उत्तर दिया— गुरुवर, मैंने आज तक किसी को 'न' नहीं किया है। मुझसे जिसने जो कुछ मांगा है, मैंने उसे अवश्य दिया है। भले ही यह ब्रह्मचारी भगवान विष्णु हों, भले ही यह अपने तीनों पगों में मेरे तीनों लोकों के राज्यों की धरती को नाप कर मुझे भिखारी बना दें, किन्तु मैं इन्हें तीन पग धरती का दान अवश्य दूंगा। गुरुवर, मेरे लिए यह बात कम महत्त्व की नहीं है कि भगवान विष्णु स्वयं मेरे द्वार पर याचक बने हैं।

शुक्राचार्य ने जब देखा कि बलि किसी भी प्रकार मानने के लिए तैयार नहीं हैं, तो वे यज्ञमंडप को छोड़ कर चले गये। वे जाते-जाते बलि को श्राप दे गये— बलि, तुमने मेरे कथन की उपेक्षा करके मेरा अपमान किया है। मैं तुम्हें श्राप दे रहा हूं कि तुम्हारा तेज क्षीण हो जायेगा।

शुक्राचार्य के चले जाने पर बलि ने तीन पग पृथ्वी का दान वामन भगवान को दे दिया। आश्चर्य, महान आश्चर्य! दान लेते ही वामन भगवान ने विराट रूप धारण कर लिया। ऐसा विराट रूप धारण कर लिया कि उनके शरीर में सारा ब्रह्मांड समाविष्ट हो गया।

वामन भगवान ने अपने दो पगों में ही बलि के तीनों लोकों के राज्यों की धरती नाप ली। उन्होंने बलि की ओर देखते हुए कहा— बलि, बताओ मैं तीसरा पग कहां रखूं? तुमने मुझे तीन पग पृथ्वी का दान दिया है। जो मनुष्य दान देकर पूरा नहीं करता, उसे नरक में भी स्थान नहीं मिलता।

वामन भगवान ने जब दो पगों में ही बलि के तीनों लोकों के राज्यों की धरती नाप ली, तो उन्होंने बलि को वरुण पाश में बांध लिया, क्योंकि वचन के अनुसार देने के लिए अब बलि के पास कुछ भी नहीं रह गया था।

वामन भगवान के कथन को सुनकर बलि बोला— प्रभो, आप ने अपने दो

पगों में मेरे तीनों लोकों के राज्यों की धरती नाप ली। मेरे पास अब धरती नहीं है तो क्या हुआ! मेरा मस्तक तो है। आप अपना तीसरा पग मेरे मस्तक पर रख दें।

वामन भगवान ने अपना तीसरा पग बलि के मस्तक पर रख दिया। आश्चर्य, बलि पाशमुक्त हो गया। वामन भगवान ने मृदुल वाणी में कहा— बलि, तुमने अपने प्रेम और अपनी भक्ति से मुझे अपने वश में कर लिया है। मैं तुम्हें पाताल का राज्य सौंप रहा हूं। पाताल का राज्य तुम्हारे वंशजों के हाथ में सदा रहेगा।

बलि अपने दैत्यों को लेकर पाताल लोक में चला गया। कहते हैं, पाताल लोक में आज भी दैत्यों के वंशजों का ही राज्य है।

वामन भगवान ने इस प्रकार अदिति के पुत्रों अर्थात् देवताओं को संकटों से मुक्ति दिलायी। स्वर्ग पर पुन: देवताओं का राज्य हो गया। भगवान इसी प्रकार धर्म के अभ्युदय और सज्जनों की रक्षा करने के लिए जन्म धारण करते हैं, कार्य करते हैं, क्योंकि उन्हें धर्म अधिक प्रिय है और धर्माचरण अधिक-से-अधिक प्रिय है।

मत्स्य-अवतार

(भगवान कब, कहां और किस रूप में अवतरित होते हैं—इस बात को कोई नहीं जान सकता?)

कल्पांत के पूर्व एक बार ब्रह्मा जी की असावधानी के कारण एक बहुत बड़े दैत्य ने वेदों को चुरा लिया था। उस दैत्य का नाम हयग्रीव था। वेदों को चुरा लिये जाने के कारण ज्ञान लुप्त हो गया। चारों ओर अज्ञानता का अन्धकार फैल गया; और पाप तथा अधर्म का बोलबाला हो गया। भगवान ने धर्म की रक्षा के लिए मत्स्य का रूप धारण करके हयग्रीव का वध किया। वेदों की रक्षा की।

भगवान ने मत्स्य का रूप किस प्रकार धारण किया—इस रोचक और विस्मयकारिणी कथा को नीचे की पंक्तियों में पढ़िये।

कल्पान्त के पूर्व एक पुण्यात्मा राजा तप कर रहा था। राजा का नाम सत्यव्रत था। सत्यव्रत पुण्यात्मा तो था ही, बड़े उदार हृदय का भी था।

प्रभात का समय था। सूर्योदय हो चुका था। सत्यव्रत कृतमाला नदी में स्नान कर रहा था। उसने स्नान करने के पश्चात् जब तर्पण के लिए अंजलि में जल लिया, तो अंजलि में जल के साथ एक छोटी-सी मछली भी आ गयी।

सत्यव्रत ने मछली को नदी के जल में छोड़ दिया।

मछली बोल उठी—राजन्, जल के बड़े-बड़े जीव छोटे-छोटे जीवों को मारकर खा जाते हैं। अवश्य कोई बड़ा जीव मुझे भी मार कर खा जायेगा। आप तो बड़े दयालु हैं। कृपा करके मेरे प्राणों की रक्षा कीजिए।

सत्यव्रत के हृदय में दया उत्पन्न हो उठी। उसने मछली को जल से भरे हुए अपने कमंडलु में डाल लिया।

आश्चर्य, एक रात में ही मछली का शरीर इतना बढ़ गया कि कमंडलु उसके रहने के लिए छोटा पड़ने लगा।

दूसरे दिन मछली सत्यव्रत से बोली—राजन्, मेरे रहने के लिए कोई दूसरा स्थान ढूंढ़िये, क्योंकि मेरा शरीर बढ़ गया है। मुझे घूमने-फिरने में बड़ा कष्ट होता है।

सत्यव्रत ने मछली को कमंडलु से निकाल कर पानी से भरे हुए एक मटके में रख दिया। आश्चर्य, मछली का शरीर रात-भर में ही मटके में भी बढ़ गया। इतना बढ़ गया कि मटका भी उसके रहने के लिए छोटा पड़ गया।

दूसरे दिन मछली पुनः सत्यव्रत से बोली—राजन्, मेरे रहने के लिए कहीं और प्रबन्ध कीजिए, क्योंकि मटका भी मेरे रहने के लिए छोटा पड़ गया है।

सत्यव्रत ने मछली को निकाल कर तालाब में डाल दिया, किन्तु तालाब भी मछली के लिए छोटा पड़ गया। इसके बाद सत्यव्रत ने मछली को नदी में और फिर उसके बाद समुद्र में डाल दिया।

आश्चर्य, महान आश्चर्य! समुद्र में भी मछली का शरीर अधिक बढ़ गया। इतना अधिक बढ़ गया कि मछली के रहने के लिए वह छोटा पड़ गया।

अतः मछली पुनः सत्यव्रत से बोली—राजन्, यह समुद्र भी मेरे रहने के लिए उपयुक्त नहीं है। मेरे रहने की व्यवस्था कहीं और कीजिये।

सत्यव्रत विस्मित हो उठा। उसने आज तक ऐसी मछली कभी भी नहीं देखी थी। वह विस्मय-भरे स्वर में बोला—मेरी बुद्धि को विस्मय के सागर में डुबो देने वाले आप कौन हैं? आपका शरीर जिस गति से प्रतिदिन बढ़ता है, उसे दृष्टि में रखते हुए बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि आप अवश्य परमात्मा हैं। यदि यह बात सत्य है, तो कृपा करके बताइये कि आपने मत्स्य का रूप क्यों धारण किया है।

सचमुच, वह भगवान श्री हरि ही थे। मत्स्य रूप धारी श्री हरि ने उत्तर दिया—राजन्, हयग्रीव नामक दैत्य ने वेदों को चुरा लिया है। जगत में चारों ओर अज्ञान और अधर्म का अंधकार फैला हुआ है। मैंने हयग्रीव को मारने के लिए ही मत्स्य का रूप धारण किया है।

आज से सातवें दिन पृथ्वी प्रलय की चक्की में पिस जायेगी। समुद्र उमड़ उठेगा। भयानक वृष्टि होगी। सारी पृथ्वी पानी में डूब जायेगी। जल के अतिरिक्त कहीं कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होगा।

आपके पास एक नाव पहुंचेगी। आप सभी अनाजों और औषधियों के बीजों को लेकर सप्त ऋषियों के साथ नाव पर बैठ जाइयेगा। मैं उसी समय आपको पुनः दिखायी पड़ूंगा और आपको आत्मतत्व का ज्ञान प्रदान करूंगा।

सत्यव्रत उसी दिन से हरि का स्मरण करते हुए प्रलय की प्रतीक्षा करने लगे।

सातवें दिन प्रलय का दृश्य उपस्थित हो उठा। समुद्र उमड़ कर अपनी सीमा से बाहर बहने लगा। भयानक वृष्टि होने लगी। बड़े जोरों से वायु चलने लगी।

विद्युत की भयंकर गर्जना होने लगी। थोड़ी ही देर में चारों ओर जल ही जल हो गया। सम्पूर्ण पृथ्वी जल में समा गयी।

इसी समय एक नाव दिखायी पड़ी। सत्यव्रत सप्त ऋषियों के साथ उस नाव पर बैठ गये। उन्होंने नाव के ऊपर सम्पूर्ण अनाजों और औषधियों के बीज भी भर लिये।

नाव प्रलय के सागर में चलने लगी। प्रलय के उस सागर में उस नाव के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं था। सहसा मत्स्य रूप भगवान प्रलय के सागर में दिखायी पड़े। सत्यव्रत और सप्तर्षिगण मत्स्य रूप भगवान की प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, आप ही सृष्टि के आदि हैं, आप ही सृष्टि के अंत भी हैं। सारा ब्रह्मांड आप में ही समाविष्ट है, आप ही प्राणियों के पिता हैं, आप ही पालक हैं और आप ही रक्षक भी हैं। दया करके हमें अपनी शरण में लीजिये, हमारी रक्षा कीजिये।

सत्यव्रत और सप्तऋषियों की प्रार्थना पर मत्स्य रूप भगवान प्रसन्न हो उठे। उन्होंने अपने वचन के अनुसार सत्यव्रत को आत्मज्ञान प्रदान किया—सभी प्राणियों में मैं ही निवास करता हूं। न कोई ऊंच है, न नीच है। सभी प्राणी एक समान हैं। जगत नश्वर है। नश्वर जगत में मेरे अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। जो प्राणी मुझे सब में देखता हुआ जीवन व्यतीत करता है, वह अन्त में मुझ से ही मिल जाता है।

मत्स्य रूप भगवान से आत्मज्ञान को पाकर सत्यव्रत का जीवन धन्य हो उठा। वे जीते-जी ही जीवन-मुक्त हो गये।

प्रलय का प्रकोप शान्त होने पर मत्स्य रूप भगवान ने हयग्रीव को मारकर, उससे वेद छीन लिये। भगवान ने ब्रह्मा जी को पुनः वेद दे दिये।

इस प्रकार भगवान ने मत्स्य रूप धारण करके वेदों का उद्धार तो किया ही, संसार के प्राणियों का भी अमित कल्याण किया। भगवान इसी प्रकार समय-समय पर अवतरित होते हैं और सज्जनों तथा साधुओं का कल्याण करते हैं।

अम्बरीष

(भगवान अपने भक्तों की रक्षा के लिए अपनी मर्यादा को भी भूल जाया करते हैं।)

वैवस्वत मनु के वंशधरों में एक अत्यधिक प्रतापी राजा का जन्म हो चुका था। उन राजा का नाम अम्बरीष था। वह बड़े धर्मात्मा और पुण्यात्मा भी थे। अपनी संतान के समान ही प्रजा का पालन करते थे। बहुत बड़ा राज्य था, प्रचुर वैभव था और बहुत बड़ी सेना भी थी। किन्तु अम्बरीष की राज्य और वैभव में आसक्ति नहीं थी। वह भगवान के अनन्य भक्त थे। बहुत बड़े राजा होने पर भी साधारण कुटिया में रहते थे, सादा जीवन व्यतीत करते थे। अम्बरीष दिन-रात भगवान का नाम स्मरण किया करते थे। उन्हें भगवान के नाम-स्मरण के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता था।

अम्बरीष की धर्मपत्नी भी उन्हीं के सदृश भगवान के चरणों की अनुरागिनी थी। वह भी दिन-रात भगवान का नाम जपती रहती थी और उनकी सेवा में संलग्न रहा करती थी। पति और पत्नी दोनों के अनुराग पर भगवान प्रसन्न हो उठे। उन्होंने उन्हें दर्शन देकर उनके जीवन को कृतार्थ तो कर ही दिया, उनकी रक्षा के लिए अपने सुदर्शन चक्र को भी नियुक्त कर दिया।

एक बार अम्बरीष ने अपनी पत्नी-सहित पूरे वर्ष भर एकादशी का व्रत रखने का अनुष्ठान किया। धर्मशास्त्रों के अनुसार जो मनुष्य यह अनुष्ठान करता है, वह परमपद का भागी होता है।

कार्तिक का महीना था, शुक्ल पक्ष की द्वादशी थी। अम्बरीष का अनुष्ठान पूर्ण हो चुका था। उन्हें द्वादशी के दिन पारण करना था। किन्तु उस दिन द्वादशी थोड़े ही समय तक थी। व्रत के नियमों के अनुसार त्रयोदशी के दि़न पारण करना निषिद्ध माना जाता है।

अम्बरीष जब पारण करने के लिए बैठे, तो दुर्वासा मुनि आ गये। वह एक अतिथि थे। धर्मशास्त्रों के अनुसार अतिथि देवता के सदृश होता है।

दुर्वासा के आने पर अम्बरीष का पारण करना रुक गया, क्योंकि पारण के पूर्व अतिथि को भोजन कराना आवश्यक था। अम्बरीष ने मुनि से भोजन करने की प्रार्थना की, तो उन्होंने उत्तर दिया— राजन्, मैं यमुना में स्नान करने जा रहा हूं। स्नान के पश्चात् ही भोजन करूंगा।

दुर्वासा जी स्नान करने के लिए चले गये। अम्बरीष ने कुछ देर तक उनकी प्रतीक्षा की, किन्तु वे नहीं आये। फलतः अम्बरीष के सामने संकट उपस्थित हो गया। वह करें तो क्या करें? पारण करने का समय निकलता जा रहा था। यदि वह समय पर पारण नहीं करते हैं, तो उनका अनुष्ठान भंग हो जाता है और यदि वह दुर्वासा ऋषि को भोजन कराने से पहले पारण कर लेते हैं, तो अपने आतिथेय धर्म से च्युत होते हैं। फिर वह करें तो क्या करें?

अम्बरीष ने इस सम्बन्ध में विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श किया। उन्होंने अम्बरीष को सलाह दी— राजन्, धर्मग्रन्थों के अनुसार जल पीना भोजन में गिना जाता है और नहीं भी गिना जाता। अतः आपको जल पीकर पारण के नियम को पूरा कर लेना चाहिए।

ब्राह्मणों की बात को मानकर अम्बरीष ने दुर्वासा ऋषि के आने के पूर्व ही थोड़ा-सा जल पी लिया।

थोड़ी देर के पश्चात् दुर्वासा मुनि यमुना में स्नान करके लौट आये। उन्होंने अम्बरीष के रंग-ढंग से समझ लिया कि उसने उन्हें खिलाने के पूर्व ही कुछ खा लिया है। दुर्वासा जी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने क्रोध-भरी दृष्टि से अम्बरीष की ओर देखते हुए कहा— अम्बरीष, तुमने मेरा अपमान किया है। मैं तुम्हारा अतिथि हूं। तुमने मुझे भोजन कराने के पूर्व ही भोजन कर लिया है। तुम्हें मेरे अपमान का फल भोगना पड़ेगा।

अम्बरीष ने हाथ जोड़कर निवेदन किया— मुने, मैंने भोजन नहीं किया है। मैंने ब्राह्मणों की सलाह से केवल थोड़ा-सा जल ग्रहण किया है। क्षमा कीजिये, पारण का समय निकलता जा रहा था, मैं विवश था।

किन्तु दुर्वासा का क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे सक्रोध बोले— अम्बरीष, तुम्हें घमंड हो गया है। तुम्हें फल भोगना ही पड़ेगा। मैं तुम्हारे घमंड को चूर करके रहूंगा।

दुर्वासा मुनि ने क्रुद्ध होकर अपनी जटाओं से एक बाल तोड़ कर पृथ्वी पर पटक दिया। दुर्वासा के उस बाल से भयानक कृत्या प्रकट हो गयी। प्रकट होते ही कृत्या अम्बरीष को मारने के लिए उनकी ओर झपट पड़ी। कृत्या अम्बरीष पर

आक्रमण करे— उसके पूर्व ही रक्षा के लिए नियुक्त सुदर्शन चक्र ने उसका काम तमाम कर दिया।

भगवान का सुदर्शन चक्र कृत्या को मारकर दुर्वासा मुनि की ओर बढ़ा। दुर्वासा जी उसके भय से भाग चले। सुदर्शन चक्र ने उनका पीछा किया। वे जहां-जहां भी जाते थे, सुदर्शन चक्र उनके पीछे लगा रहता था। दुर्वासा जी ने तीनों लोकों का चक्कर लगाया, किन्तु कोई भी उनकी रक्षा नहीं कर सका। वे ब्रह्मा और शिव जी की भी शरण में गये, किन्तु उन्होंने भी उनकी रक्षा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। उन्होंने दुर्वासा जी से कहा— भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र से रक्षा उनके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता, अत: आप उन्हीं के पास जाइये।

दुर्वासा करते तो क्या करते? वे भगवान विष्णु के पास गये। उन्होंने भगवान विष्णु से कहा— प्रभो, आपके सुदर्शन चक्र के तेज से मेरा शरीर जलता जा रहा है। कृपा करके मेरी रक्षा कीजिये।

भगवान विष्णु ने उत्तर दिया— मुने, मैं तो अपने भक्तों के वश में रहता हूं। आपने मेरे भक्त अम्बरीष का अपमान किया है। अत: सुदर्शन से मैं भी आपकी रक्षा नहीं कर सकता। आप अम्बरीष के ही पास जाइये। वह भक्त हैं, दयालु हैं, अवश्य आपकी रक्षा करेंगे।

दुर्वासा मुनि करते तो क्या करते? वे अपनी रक्षा के लिए अम्बरीष की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने अम्बरीष से कहा— महाराज, अम्बरीष, मुझसे भूल हुई। मैं आपकी शरण में हूं। कृपया मेरी रक्षा कीजिये।

अम्बरीष के हृदय में दया तो थी ही, वह दयार्द्र हो उठे। उन्होंने सुदर्शन चक्र की अभिवंदना की— आप बड़े तेजवान हैं। आपके ही तेज से सूर्य तेजस्वी है, अग्नि तेजस्वी है। आप दुर्वासा पर दया करें। उन्हें अपनी शरण में लेकर निर्भय बना दें।

अम्बरीष की प्रार्थना पर सुदर्शन चक्र अदृश्य हो गया। दुर्वासा भयमुक्त हो गये। उस दिन से चारों ओर यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि भगवान अपने भक्तों की रक्षा के लिए अपनी मर्यादा को भी छोड़ दिया करते हैं। सूरदास जी ने ठीक ही लिखा है— हम भक्तन के, भक्त हमारे।

गंगावतरण

(कभी-कभी एक छोटी-सी घटना बहुत बड़े कार्य का कारण बन जाती है।)

सत्यव्रत के वंशधरों में महाराज सगर बड़े प्रतापी और पुण्यात्मा थे। सम्पूर्ण भूमंडल में उनका राज्य फैला हुआ था। बड़े-बड़े शूरवीर और राज्याधिकारी भी उनके समक्ष मस्तक झुकाते थे। कहते हैं, महाराज सगर के साठ हजार पुत्र थे।

महाराज सगर का राज्य जब सम्पर्ण भूमंडल पर फैल गया, तो उन्होंने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया। सगर के साठ हजार पुत्र घोड़े की रक्षा के लिए उसके पीछे-पीछे चलने लगे।

महाराज सगर ने जब अश्वमेध यज्ञ की रचना की, तो इन्द्र के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो उठी। उसने मन-ही-मन सोचा, यदि सगर का अश्वमेध यज्ञ पूर्ण हो गया, तो वे उसके बराबर हो जायेंगे। अत: इस यज्ञ को पूर्ण नहीं होने देना चाहिए।

इन्द्र ने यज्ञ में विघ्न डालने के उद्देश्य से यज्ञ के घोड़े को चुरा लिया। उसने यज्ञ के घोड़े को ले जाकर उस जगह बांध दिया, जहां कपिल मुनि का आश्रम था, और जहां वे तप में संलग्न थे। आजकल उस स्थान को गंगासागर कहते हैं।

इन्द्र ने जब घोड़े को चुरा लिया तो घोड़े की रक्षा के लिए नियुक्त सगर के साठ हजार पुत्र उसकी खोज करने लगे।

सगर के सभी पुत्र घोड़े की खोज करते हुए उस स्थान पर पहुंचे जहां कपिल मुनि तप में निमग्न थे।

यज्ञ का घोड़ा मुनि के पास ही बंधा हुआ था।

सगर के पुत्रों ने सोचा, हो न हो, यही मनुष्य घोड़े का चोर है। घोड़े को चुरा कर अब मुनि का ढोंग करके बैठा हुआ है। फलत: सगर के पुत्र मुनि के प्रति अपशब्दों का उच्चारण करने लगे।

सगर के पुत्रों के अपशब्दों को सुनने से कपिल मुनि के हृदय में क्रोधाग्नि उत्पन्न हो उठी। उन्होंने आंखें खोलकर, सक्रोध सगर के पुत्रों की ओर देखा। आश्चर्य, सगर के सभी पुत्र मुनि की क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो गये। कुछ देर

पूर्व जहां साठ हजार राजकुमार खड़े थे, वहां अब भस्म का ढूह खड़ा हो गया।

महाराज सगर ने अपने पुत्रों की बड़ी खोज करायी, किन्तु कहीं कुछ भी पता नहीं चल सका।

महाराज सगर की एक दूसरी रानी और थी। उसका नाम केशिनी था। महाराज सगर के स्वर्गवासी हो जाने पर केशिनी के पुत्र असमंजस ने अपने पितृव्यों का पता लगाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। तदुपरांत असमंजस के पुत्र अंशुमान तथा अंशुमान के पुत्र दिलीप ने भी इस दिशा में बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें भी सफलता प्राप्त नहीं हुई।

दिलीप के पुत्र का नाम भगीरथ था। भगीरथ बड़े प्रतापी और बड़े पुण्यात्मा थे। सम्पूर्ण घटना का विवरण सुनने के पश्चात् उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि चाहे जो भी हो, वे अपने पितृव्यों का पता लगा करके ही रहेंगे।

महाराज भगीरथ रथ पर सवार होकर अपने पितृव्यों का पता लगाने के लिए राजधानी से निकल पड़े।

महाराज भगीरथ इधर-उधर घूमते हुए कपिल मुनि के आश्रम में पहुंचे। आश्रम के बाहर मुनि तप में निमग्न थे। यज्ञ का घोड़ा उनके पास ही बंधा हुआ था।

कपिल मुनि के पास यज्ञ के घोड़े को देखकर महाराज भगीरथ ने सोचा, हो न हो, उनके पितृव्य यहां आये होंगे। वे बड़े ही साधु प्रकृति के मनुष्य थे। वे अपने पितृव्यों का पता लगाने के लिए कपिल मुनि की प्रार्थना करने लगे।

महाराज भगीरथ की प्रार्थना से कपिल मुनि प्रसन्न हुए। उन्होंने आंखें खोल कर भगीरथ की ओर देखते हुए प्रसन्न मुद्रा में कहा— राजन्, मैं तुम्हारी सज्जनता से तुम पर प्रसन्न हूं। तुम्हारे पितृव्य अपने बुरे आचरणों के कारण मेरी क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो गये हैं। यह जो ढूह दिखायी पड़ रहा है, उन्हीं की भस्मों का है। यदि तुम इनका उद्धार चाहते हो, तो तुम्हें स्वर्ग से गंगा जी को पृथ्वी पर लाना होगा। गंगा जी के पवित्र जल के स्पर्श से ही तुम्हारे पूर्वजों का उद्धार हो सकता है।

कपिल मुनि के द्वारा अपने पितृव्यों का हाल जानकर महाराज भगीरथ को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने मन-ही-मन में प्रतिज्ञा की कि भले ही उनकी सांसें क्यों न टूट जायें, किन्तु वे अपने पूर्वजों की सद्गति के लिए गंगा जी को स्वर्ग से अवश्य पृथ्वी पर लायेंगे।

महाराज भगीरथ राज्य का प्रबन्ध मंत्रियों को सौंप कर, हिमालय के प्रांगण

में जाकर तप करने लगे, अन्न-जल छोड़कर कठिन तप करने लगे। उन्होंने बहुत दिनों तक कठोर तप किया। प्रचंड आंधियां आयीं, प्रलय-वृष्टि हुई, पत्थर बरसे और बिजलियां भी कड़कीं, किन्तु महाराज भगीरथ का तपासन हिमालय की तरह दृढ़ रहा। उनके कठोर तप से गंगा जी प्रसन्न हुईं। उन्होंने प्रकट होकर कहा— राजन्, मैं तुम्हारे तप से प्रसन्न होकर धरती पर आने के लिए तैयार हूं; किन्तु प्रश्न यह है कि जब मेरी प्रचंड धारा स्वर्ग से धरती पर गिरेगी, तो उसे कौन रोकेगा? यदि उसे रोका नहीं गया, तो वह पृथ्वी की सतह को तोड़कर पाताल लोक में चली जायेगी।

गंगा जी के कथन को सुनकर महाराज भगीरथ चिन्तित हो उठे। वे चिन्ता-भरे स्वर में बोले— फिर मैं क्या करूं, मां?

गंगा जी भगीरथ के साहस और पुरुषार्थ पर प्रसन्न थीं। उनके प्रेम और उनकी भक्ति ने भी गंगा जी को पुलकित कर दिया था। वे प्रसन्न मुद्रा में बोलीं— राजन्, मेरी प्रचंड धारा को रोकने की शक्ति शिव जी के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है। तुम तप के द्वारा उनको प्रसन्न करो। यदि वे प्रचंड प्रवाह को रोकने के लिए उद्यत हों, तो मैं धरती पर आकर तुम्हारी अभिलाषा अवश्य पूरी करूंगी।

गंगा जी के कथन से भगीरथ को बड़ी प्रेरणा और बड़ा उत्साह प्राप्त हुआ। वे शिव जी को प्रसन्न करने के लिए तप करने लगे।

महाराज भगीरथ ने शिव जी को प्रसन्न करने के लिए भी कठोर तप किया। शिव जी प्रसन्न हुए। उन्होंने भगीरथ से कहा— मैं गंगा की प्रचंड धारा को अपने सिर पर लेने के लिए उद्यत हूं।

जब शिव जी गंगा की प्रचंड धारा को अपने शीश पर लेने के लिए तैयार हो गये, तो गंगा जी हर-हर शब्द करती हुई स्वर्ग से चल पड़ीं। गंगा जी स्वर्ग में मंदाकिनी के नाम से प्रवाहित होती थीं। कोई-कोई कहता है कि गंगा जी ब्रह्मा जी के कमंडलु से निकली हैं। इसके विपरीत किसी का कथन है कि गंगा जी भगवान विष्णु के पैरों के नख से निकली हैं।

जो भी हो, गंगा जी धरती की ओर चल पड़ीं। भगवान शंकर अपने दोनों पैरों को जमाकर धरती पर खड़े थे। वे आकाश की ओर देख रहे थे। उनकी जटाएं खुली हुई थीं।

गंगा जी भगवान शंकर के मस्तक पर गिर कर, उनकी जटाओं में समाविष्ट हो गयीं। गंगा जी की एक बूंद भी धरती पर नहीं गिरी। गंगा जी को शिव जी की

जटाएं इतनी प्रिय लगीं कि वे पृथ्वी पर आना ही भूल गयीं।

शिव जी ने गंगा जी की प्रचंड धारा को अपने शीश पर धारण किया, अत: वे उसी दिन से गंगाधर कहे जाने लगे।

गंगा जी जब शिव जी की जटाओं के प्रेम के जाल में उलझ गयीं, तो भगीरथ के समक्ष पुन: समस्या उत्पन्न हो गयी—अब वे करें तो क्या करें? वे अब कौन-सा उपाय करें, जिससे गंगा जी धरती पर प्रवाहित हों?

महाराज भगीरथ शिव जी को प्रसन्न करने के लिए पुन: तप में संलग्न हुए। उन्होंने पुन: बहुत दिनों तक तप किया। तरह-तरह के कष्ट भी उठाये। उनके तप से शिव जी प्रसन्न हुए। उन्होंने गंगा जी को अपनी जटाओं से मुक्त कर दिया।

फलत: गंगा जी हर-हर शब्द करती हुई प्रवाहित हो उठीं। वे हिमालय के गोमुख से बाहर निकल कर धरती पर प्रवाहित हो उठीं। उनका प्रचंड प्रवाह पत्थरों को तोड़ता हुआ, बड़ी-बड़ी शिलाओं को पीसता हुआ बहने लगा। कुछ दूर आगे जाने पर मार्ग में जह्नु मुनि की कुटिया मिली। गंगा जी अपने प्रचंड प्रवाह में उनकी कुटिया को भी बहा ले गयीं।

जह्नु मुनि क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने गंगा जी की गति को अवरुद्ध कर दिया। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि जह्नु मुनि ने गंगा जी को अपने कमंडलु में भर लिया। जो भी हो, महाराज भगीरथ पुन: संकट में पड़ गये। जह्नु मुनि को प्रसन्न करने के लिए उन्हें पुन: तप करना पड़ा। उनके तप से प्रसन्न होकर जह्नु मुनि ने गंगा जी को गति प्रदान की। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने गंगा जी को अपने कमंडलु से बाहर निकाल दिया। गंगा जी छलछला कर बहती हुईं, प्रस्तर खंडों को तोड़ती हुईं बंगाल की खाड़ी की ओर चल पड़ीं।

गंगा जी को दूसरी बार जह्नु मुनि के द्वारा गति प्राप्त हुई थी—इसीलिए वे उसी दिन से जह्नु-तनया या जाह्नवी कहलाने लगीं।

एक लोककथा के अनुसार आगे-आगे महाराज भगीरथ घोड़ा दौड़ाते हुए चले और उनके पीछे-पीछे चलीं गंगा जी। जिन-जिन मार्गों से महाराज भगीरथ आगे बढ़ने लगे, उन्हीं-उन्हीं मार्गों से होकर गंगा जी बहने लगीं। महाराज भगीरथ गंगा जी को उस स्थान पर ले गये जहां कपिल मुनि के आश्रम के पास उनके पूर्वज भस्म के ढूह बने हुए थे। गंगा जी के पवित्र जल के स्पर्श से उनके पूर्वजों का उद्धार हो गया। वे स्वर्ग चले गये।

जो भी हो, गंगा जी गोमुख से बाहर निकल कर हजारों किलोमीटर दूर बंगाल की खाड़ी में जाकर समुद्र में मिल गयीं। वे जिस स्थान में समुद्र से मिलीं,

उसे आजकल गंगासागर कहते हैं। वहां कपिल मुनि का मंदिर आज भी बना हुआ है। प्रतिवर्ष मकर संक्रान्ति के दिन लाखों श्रद्धालु वहां जाते हैं, गंगासागर में स्नान करते हैं, कपिल मुनि का दर्शन करते हैं और गंगावतरण की इस कथा को कहते और सुनते हैं।

व्यास जी के अनुसार, जो मनुष्य प्रेम से गंगावतरण की कथा को कहता और सुनता है, वह तीनों प्रकार के तापों से मुक्त हो जाता है।

रामावतार

(पृथ्वी जब पाप के भार से बोझिल हो जाती है, तो भगवान मनुष्य के रूप में जन्म धारण करते हैं।)

सत्यव्रत के वंशधरों में महाराजा दशरथ बड़े प्रतापी थे। उन्हें चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त थी। चक्रवर्ती उसे कहते हैं, जो सम्पूर्ण भूमंडल का स्वामी होता है। सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या, स्वयं इन्द्र भी दशरथ की सहायता का इच्छुक रहता था।

एक बार असुरों ने स्वर्गलोक पर आक्रमण किया था। इन्द्र ने असुरों को पराजित करने के लिए दशरथ से सहायता की याचना की थी। दशरथ इन्द्र की सहायता के लिए रणभूमि में गये थे। उनकी रानी कैकेयी भी उनके साथ थी। कहते हैं, कैकेयी सुन्दर तो थी ही, बड़ी वीर हृदया भी थी। महाराज दशरथ उसका बड़ा सम्मान करते थे।

रण के मैदान में जिस समय महाराज दशरथ का रथ तीव्रगति से घूम रहा था, सहसा उनके रथ का एक पहिया निकल गया। दशरथ चिन्ता में पड़ गये, किन्तु कैकेयी ने उनकी चिन्ता दूर कर दी। उसने कहा— महाराज, मैं रथ को अपने हाथों से उठाये रहूंगी। आप पुनः पहिये को लगा दें।

कैकेयी ने देखते-ही-देखते रथ को अपने हाथों में उठा लिया और दशरथ ने रथ में पुनः पहिये को लगा दिया। दशरथ कैकेयी के शौर्य पर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कैकेयी से कहा— कैकेयी, तुम अपनी इच्छानुसार मुझसे चाहे जो दो वर मांग सकती हो।

कैकेयी ने उत्तर दिया— स्वामी, इन दोनों वरों को अभी अपने पास ही रखिये। मुझे जब आवश्यकता होगी, मैं मांग लूंगी।

महाराज दशरथ की तीन रानियां थीं— कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या के गर्भ से राम, कैकेयी के गर्भ से भरत और सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न पैदा हुए थे। चारों भाई बड़े सुन्दर थे, बड़ें शूरवीर थे। धर्मग्रन्थों के

अनुसार राम भगवान विष्णु के अवतार थे। क्योंकि राम के जन्म के पूर्व पृथ्वी असुरों के अत्याचारों से आक्रान्त हो उठी थी, अत: रात का जन्म असुरों के विनाश के लिए ही हुआ था। धर्मग्रन्थों के अनुसार राम की धर्मपत्नी सीता जी लक्ष्मी का अवतार थीं। उनका जन्म मिथिला के राजा महाराज जनक जी के घर में हुआ था।

राम और लक्ष्मण जब बड़े हुए, तो वे विश्वामित्र जी के साथ उनके यज्ञ की रक्षा के लिए उनके आश्रम में गये। उनके आश्रम के आस-पास असुरों का बड़ा उपद्रव फैला हुआ था। राम ने बड़ी वीरता के साथ ताड़का और सुबाहु नामक राक्षसों का तो वध किया और मारीच को अपने बाण से बहुत दूर समुद्र के किनारे फेंक दिया।

राम के शौर्य पर विश्वामित्र जी अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने राम को अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये और आशीर्वाद भी दिये।

विश्वामित्र जी के आश्रम के आस-पास शान्ति स्थापित करने के पश्चात् राम और लक्ष्मण विश्वामित्र जी के साथ मिथिला गये। मिथिला में जनक की पुत्री सीता का स्वयंवर हो रहा था। विश्वामित्र जी के पास निमन्त्रण आया था। विश्वामित्र जी जब मिथिला जाने लगे, तो वे अपने साथ राम और लक्ष्मण को भी ले गये थे।

मार्ग में राम ने गौतम जी की पत्नी अहल्या का उद्धार किया। अहल्या श्राप से शिला बन गयी थी। शिला रूप अहल्या का जब राम के चरणों की धूलि से स्पर्श हुआ, तो शिला पुन: सुन्दर नारी बनकर स्वर्ग चली गयी। राम के जीवन की यह पहली घटना थी, जिसने उनकी भगवत्ता को सामने प्रस्तुत किया था। राम और लक्ष्मण मिथिला में विश्वामित्र जी के साथ सीता जी के स्वयंवर में सम्मिलित हुए। राम ने शिव जी के धनुष को तोड़कर विवाह की शर्त की पूर्ति की। उन्होंने परशुराम जी के द्वारा दिये हुए धनुष को तोड़कर उनके मन के सन्देह को दूर किया। फलत: राम का सीता जी के साथ विवाह हुआ।

सीता जी की तीन बहने भी थीं। मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति। उनका विवाह राम के तीनों भाइयों से हुआ। मांडवी का भरत के साथ, उर्मिला का लक्ष्मण के साथ और श्रुतिकीर्ति का शत्रुघ्न के साथ विवाह हुआ।

राम जब विवाह करके अयोध्या लौटे, तो महाराजा दशरथ ने उनका राज्याभिषेक करने का विचार किया। वे गुरु वशिष्ठ की सम्मति से, अभिषेक की तैयारियां करने लगे। अयोध्या के घर-घर में, गली-गली में हर्ष और उत्साह का सागर उमड़ उठा। प्रत्येक मनुष्य उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा, जब राम का अभिषेक पूर्ण होगा और वे अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठेंगे।

किन्तु बीच में ही विघ्न उपस्थित हो गया। मंथरा नामक दासी की कुमंत्रणा से कैकेयी के मन में विकार उत्पन्न हो उठा। वह कोपभवन में जाकर पड़ गयी। दशरथ जब उसे मनाने के लिए उसके पास गये, तो उसने दशरथ से कहा— स्वामी, आपने मुझे दो वरदान देने के लिए वचन दिये थे। कृपा करके उन दोनों वरदानों को मुझे दीजिये। एक वरदान तो यह दीजिये कि राजसिंहासन पर राम नहीं भरत बैठेंगे और दूसरा वरदान यह दीजिये कि राम चौदह वर्षों तक वन में निवास करेंगे।

कैकेयी के कथन को सुनकर दशरथ का हृदय कांप उठा। उन्होंने उसे मनाने और समझाने का बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु कुछ परिणाम नहीं निकला। कैकेयी अपनी मांग पर दृढ़ रही और नहीं मानी। उसने बड़ी ही स्पष्ट शब्दों में दशरथ से कहा— या तो वचन छोड़ने का अपयश लीजिये या वचन का पालन कीजिये। राम के कानों में जब कैकेयी की दुराग्रह की बात पड़ी, तो वे दशरथ के पास जाकर बोले— पिता जी, आप क्यों दु:ख करते हैं। मैं वन जाऊंगा। मेरे लिए यह बात अत्यधिक आनन्द की होगी कि भरत राजसिंहासन पर बैठें।

राम के कथन को सुनकर दशरथ विलाप करने लगे, अश्रुमोचन करने लगे। किन्तु राम रुक नहीं सके। वे सीता और लक्ष्मण के साथ चौदह वर्षों के लिए वन चले गये। उनके वन चले जाने पर दशरथ ने उनके वियोग में शरीर छोड़ दिया।

राम, लक्ष्मण और सीता श्रृंगवेरपुर प्रयाग और चित्रकूट होते हुए पंचवटी पहुंचे। राम पंचवटी में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। उन्होंने पंचवटी के आस-पास ऋषियों और मुनियों की हड्डियों को देखकर प्रतिज्ञा की कि जब तक वह राक्षसों का समूल विनाश नहीं कर देंगे, सन्तोष की सांस नहीं लेंगे।

पंचवटी में रावण की बहन शूर्पणखा के कारण राम और रावण में प्रथम संघर्ष हुआ। खरदूषण और त्रिशिरा आदि राक्षसों ने राम पर आक्रमण किया। राम ने अपने तीखे बाणों से राक्षसों की सेना को नष्ट तो कर ही दिया, बड़े-बड़े राक्षस सेनापतियों को भी मार डाला।

उन दिनों लंका में रावण का राज्य था। रावण बड़ा अत्याचारी था। उसे जब राक्षसों की सेना और खरदूषण आदि वीरों के मारे जाने का समाचार मिला, तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने अपने मामा मारीच को राम के प्रति षड्यंत्र रचने की प्रेरणा दी।

मारीच बड़ा मायावी था। उसने सुन्दर सोने के मृग का रूप धारण करके बहुत बड़ा षड्यंत्र किया। उसके षड्यंत्र के परिणाम-स्वरूप राम और लक्ष्मण जब अपनी कुटिया में नहीं थे, तो रावण छद्म वेश में वहां उपस्थित हुआ। वह बलपूर्वक

सीता को रथ पर बिठा कर, उनका अपहरण कर ले गया।

सीता का अपहरण हो जाने पर राम बहुत दुखी हुए। वे विकल होकर पंचवटी के आस-पास उनकी खोज करने लगे। सीता जी जब पंचवटी के आ़स-पास नहीं मिलीं, तो राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ उनकी खोज के लिए दक्षिण दिशा की ओर चले।

राम मार्ग में शबरी नामक भीलनी की कुटिया में गये। शबरी राम की अनन्य भक्त थी। वह बड़ी उत्सुकता और विकलता के साथ उनकी राह देखा करती थी। राम ने शबरी के हाथों से उसके जूठें बेर खाकर उसे धन्य बना दिया। वे शबरी को अपनी अमूल्य भक्ति प्रदान करके वहां से आगे बढ़े।

कुछ और दूर जाने पर राम की भेंट आहत जटायु से हुई। जटायु एक गृद्ध पक्षी था। वह सीता को रावण से छुड़ाने के प्रयत्न में आहत हो गया था। वह रावण का पता बताना ही चाहता था कि उसकी सांसें टूट गयीं। राम ने पिता की भांति ही उसका अन्तिम संस्कार किया।

वहां से और आगे चलने पर राम ऋष्यमूक पर्वत पर पहुंचे। ऋष्यमूक पर्वत पर राम की भेंट हनुमान, सुग्रीव और बालि से हुई। सुग्रीव और बालि दोनों भाई थे। बालि आयु में बड़ा था। उसनें अपने छोटे भाई सुग्रीव का राज्य तो छीन ही लिया था, उसकी पत्नी भी छीन ली थी। राम ने बालि को मार कर सुग्रीव को उसका राज्य दिलाया और उससे मित्रता स्थापित की।

सुग्रीव बंदरों और भालुओं का राजा था। उसने सीता का पता लगाने के लिए चारों ओर अपने दूत भेजे। हनुमान जी को सीता का पता लगाने में सफलता प्राप्त हुई। सीता जी लंका में रावण की अशोक वाटिका में थीं।

राम ने सीता का पता लगाने पर बन्दरों और भालुओं की बहुत बड़ी सेना संगठित की। सुग्रीव, जाम्बवंत, नल, नील और अंगद आदि इस सेना के सेनापति थे, जो बड़े शूर-वीर और रण की विद्या में दक्ष थे।

राम अपनी विशाल सेना लेकर समुद्र-तट पर पहुंचे। उन्होंने पहले समुद्र से प्रार्थना की, वह उनकी सेना को उस पार जाने के लिए मार्ग दे दे, किन्तु राम की प्रार्थना का प्रभाव समुद्र पर नहीं पड़ा। आखिर, राम को समुद्र के ऊपर शर का संधान करने को तैयार होना पड़ा।

समुद्र भयभीत होकर राम के समक्ष प्रकट हुआ। उसने राम से क्षमा याचना करते हुए कहा— आप की सेना में नल और नील पुल बनाने की विद्या में बड़े कुशल हैं। आप उनसे कहें वे पत्थरों और वृक्षों आदि के द्वारा पुल का निर्माण करें।

मैं स्वयं पुल बनाने में उनकी सहायता करूंगा।

फलतः नल और नील ने बन्दरों और भालुओं की सहायता से पुल का निर्माण किया। राम, लक्ष्मण और उनकी पूरी सेना उस पुल के द्वारा उस पार लंका में गयी। यद्यपि आज वह पुल विद्यमान नहीं है, किन्तु आज भी लोग उसे रामेश्वर के पुल के नाम से याद करते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि पुल बनाने के पूर्व राम ने शिव जी की पूजा की थी। राम ने जहां शिव जी की पूजा की थी, वह स्थान आज भी रामेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। रामेश्वर में भगवान शिव जी का ज्योतिर्लिंग स्थापित है, जिसे रामेश्वर कहते हैं।

रावण का छोटा भाई विभीषण बड़ी साधु प्रकृति का था। वह रावण के अत्याचारों से बड़ा दुखी था। उसे जब लंका की सीमा के भीतर राम के आने की खबर मिली, तो वह उनकी शरण में गया। राम ने उसे अपनाकर अपना बना लिया। राम और रावण के युद्ध में विभीषण के द्वारा राम को बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। राम ने पहले रावण को समझाने का प्रयत्न किया; किन्तु जब कुछ परिणाम नहीं निकला, तो राम और रावण की सेना में भयंकर युद्ध हुआ। दोनों ओर से मारक और संहारक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग किये गये। राम को युद्ध में पराजित करने के लिए रावण ने शौर्य से तो काम लिया ही था, छल और माया से भी काम लिया था; किन्तु उसे युद्ध में हारना ही नहीं पड़ा उसका समूल विनाश भी हो गया। वह अपने भाइयों, पुत्रों और पौत्र आदि के साथ रण की शय्या पर अनन्त निन्द्रा में सो गया। लंका पर राम का अधिकार स्थापित हो गया।

किन्तु राम ने लंका पर राज्य नहीं किया। उन्होंने लंका का राज्य विभीषण को सौंप दिया। विभीषण ने बड़े सम्मान के साथ सीता जी को राम के पास पहुंचा दिया। जिस प्रकार सूर्य को देखकर कमलिनी विकसित हो उठती है, उसी प्रकार राम के चरणों को देखकर सीता जी का मन हर्ष से भर गया। उनका सारा दुःख और विषाद दूर हो गया।

लंका-विजय के पश्चात् राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान और सुग्रीव आदि के साथ पुष्पक विमान पर बैठकर अयोध्या की ओर चल पड़े। उधर अयोध्या में भरत राम की पादुका को राजसिंहासन पर रखकर प्रतिनिधि के रूप में राज्य का कार्य देख रहे थे। वे अयोध्या के बाहर नन्दीग्राम में तपस्वी की भांति निवास करते थे। राम जिन दिनों चित्रकूट में निवास करते थे, भरत उन्हें लौटा लाने के लिए उनके पास गये थे, किन्तु राम ने चौदह वर्ष के पूर्व लौटना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने

अपनी पादुका भरत को प्रदान कर दी थी।

भरत जी को जब यह समाचार मिला कि राम, लक्ष्मण और सीता-सहित अयोध्या आ रहे हैं, तो उन्होंने नगर-निवासियों के साथ आगे बढ़ कर राम का स्वागत किया। राम, सीता और लक्ष्मण चौदह वर्षों से बिछड़े हुए पुरजनों, परिजनों और गुरुजनों से बड़े प्रेम से मिले। परस्पर मिलन से आनन्द का जो समुद्र उमड़ उठा था, उसका चित्रण कौन कर सकता है!

राम के लौटने से अयोध्या में सुख और उल्लास का वसंत छा गया था। उसी सुख और उल्लास के वातावरण में राम का राज्याभिषेक हुआ। वह राजसिंहासन पर बैठकर, अयोध्या के नृपति के रूप में राज्य करने लगे। उनके राज्य में किसी को कोई भी दुःख नहीं हुआ। दुःख तीन प्रकार का होता है—दैहिक, दैविक और भौतिक। कहते हैं, राम के राज्य में इन तीनों प्रकार के दुःखों में किसी को कोई भी दुःख नहीं था।

राम को राजसिंहासन पर बैठे हुए अभी कुछ ही दिन हुए थे, एक धोबी ने सीता जी के चरित्र के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया। उसका कथन जब राम के कानों में पड़ा, तो राम ने प्रजानुरंजन के लिए सीता का परित्याग कर दिया। जिस समय सीता जी का परित्याग किया गया था, उस समय वे गर्भवती थीं। परित्यक्ता सीता ने महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में आश्रय ग्रहण किया। महर्षि के आश्रम में सीता के गर्भ से दो जुड़वें बालक उत्पन्न हुए। महर्षि ने उन बालकों का नाम रखा—लव और कुश। महर्षि ने उन बालकों का पालन-पोषण तो किया ही, शिक्षा देकर उन्हें योग्य और शूरवीर भी बनाया।

उधर राम ने अश्वमेध यज्ञ की रचना की। महर्षि वाल्मीकि ने सीता और लव-कुश के साथ यज्ञमंडप में प्रवेश किया। उन्होंने राम से सीता और लव-कुश को तो ग्रहण किया, किन्तु सीता को ग्रहण करने के पूर्व उनसे सबके समक्ष परीक्षा देने के लिए कहा—सीता जी ने बहुत बड़ी परीक्षा दी। उनकी पुकार पर पृथ्वी फट गयी और वे राम के देखते-ही-देखते पृथ्वी के भीतर समाविष्ट हो गयीं।

राम के हृदय पर इस घटना का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। सीता के वियोग ने उनके मन को अस्थिर कर दिया। उनका कार्यकाल भी पूर्ण हो चुका था। वे संसार को छोड़कर अपने लोक में चले गये।

राम की कहानी युग-युगों के लिए अमर बन गयी। कई युग बीत गये हैं, पर आज भी लोग राम के चरित्र का गान बड़ी श्रद्धा के साथ करते हैं और सुनते हैं।

सहस्त्रबाहु और परशुराम

(अभिमान सर्वनाश का कारण होता है।)

हैहय वंश में उत्पन्न अर्जुन बड़ा प्रतापी और बड़ा शूरवीर था। उसने अपने गुरु दत्तात्रेय को प्रसन्न करके वरदान के रूप में उनसे हज़ार भुजाएं प्राप्त की थीं। हज़ार भुजाएं होने के कारण अर्जुन सहस्त्रार्जुन के नाम से भी अभिहित किया जाता था। उसे सभी सिद्धियां भी प्राप्त थीं।

सहस्त्रार्जुन को अपने बल और वैभव का बड़ा गर्व था। एक बार वह गले में वैजयन्ती माला पहने हुए नर्मदा नदी में स्नान कर रहा था। उसने कौतुक ही कौतुक में अपनी भुजाओं को फैला कर नदी के प्रवाह को रोक लिया।

लंकाधिपति रावण को सहस्त्रार्जुन का यह कार्य बड़ा ही अनुचित और अन्यायपूर्ण लगा। उसे भी अपने बल का बड़ा गर्व था। वह सहस्त्रार्जुन के पास जाकर उसे खरी-खोटी सुनाने लगा। सहस्त्रार्जुन उसकी खरी-खोटी को सुनकर क्रुद्ध हो उठा। उसने उसे देखते-ही-देखते बन्दी बना लिया।

सहस्त्रार्जुन ने बन्दी रावण को अपने कारागार में बन्द कर दिया। किन्तु पुलस्त्य ऋषि ने दयालु होकर उसे मुक्त करा दिया। फिर भी रावण के मन का अभिमान दूर नहीं हुआ। वह अभिमान के मद में चूर होकर ही ऋषियों और मुनियों पर अत्याचार किया करता था।

सहस्त्रबाहु के अभिमान का तो कहना ही क्या था! वह तो सदा अभिमान के यान पर बैठकर गगन में उड़ा करता था। एक बार सहस्त्रबाहु उस वन में आखेट के लिए गया, जिस वन में परशुराम के पिता यमदग्नि का आश्रम था। सहस्त्रबाहु अपने सैनिकों के साथ उनके आश्रम में उपस्थित हुआ।

यमदग्निजी ने अपनी गाय कामधेनु की सहायता से सहस्त्रबाहु और उनके सैनिकों का राजसी स्वागत किया और उनके खानपान का प्रबन्ध किया। कामधेनु के चमत्कार को देखकर सहस्त्रबाहु उस पर मुग्ध हो गया। उसने यमदग्नि से कहा कि वे अपनी गाय को उसे दे दें।

किन्तु यमदग्नि जी कामधेनु को क्यों देने लगे? उन्होंने इनकार कर दिया। उनके इनकार करने पर सहस्रबाहु ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि वे कामधेनु को बलपूर्वक अपने साथ ले चलें।

निदान, सहस्रबाहु कामधेनु को अपने साथ ले गया। उस समय आश्रम में परशुराम जी नहीं थे। परशुराम जी जब आश्रम में आये, तो उनके पिता यमदग्नि ने उन्हें यह बताया कि, किस प्रकार सहस्रबाहु अपने सैनिकों के साथ आश्रम में आया था और किस प्रकार वह कामधेनु को बलपूर्वक अपने साथ ले गया।

घटना को सुनकर परशुराम जी अत्यधिक क्रुद्ध हो उठे। वे कंधे पर अपना परशु रखकर माहिष्मती की ओर चल पड़े, क्योंकि सहस्रबाहु माहिष्मती में ही निवास करता था।

सहस्रबाहु अभी माहिष्मती के मार्ग में ही था कि परशुराम जी उसके पास जा पहुंचे। उसने जब यह देखा कि परशुराम जी प्रचंड गति से चले आ रहे हैं, तो उसने उनका सामना करने के लिए अपनी सेनाएं खड़ी कर दीं। एक ओर हज़ारों सैनिक थे, दूसरी ओर अकेले परशुराम जी थे। घनघोर युद्ध होने लगा। परशुराम जी ने अकेले ही सहस्रबाहु के समस्त सैनिकों को मृत्यु के मुख में पहुंचा दिया।

जब सहस्रबाहु की सम्पूर्ण सेना नष्ट हो गयी, तो वह स्वयं रण के मैदान में उतरा। वह अपने हज़ार हाथों से हज़ार बाण एक साथ ही परशुराम जी पर छोड़ने लगा। परशुराम जी उसके समस्त बाणों को दो हाथों से ही नष्ट करने लगे। जब बाणों का प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ा, तो सहस्रबाहु एक बहुत बड़ा वृक्ष उखाड़ कर उसे हाथ में लेकर परशुराम जी की ओर झपटा। परशुराम जी ने अपने बाणों से वृक्ष के तो खंड-खंड कर ही दिये, सहस्रबाहु के मस्तक को भी काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया। वह रणभूमि में सदा के लिए सो गया।

परशुराम जी सहस्रबाहु को मारने के पश्चात् कामधेनु को लेकर अपने पिता की सेवा में उपस्थित हुए। महर्षि यमदग्नि कामधेनु को पाकर अतीव हर्षित हुए। उन्होंने परशुराम जी को हृदय से लगाकर उन्हें बहुत-बहुत आशीर्वाद दिये।

परशुराम जी अपने पिता के अनन्य भक्त थे। वे उन्हें परमात्मा मानकर समादृत किया करते थे। यमदग्नि जी बहुत बड़े योगी थे। उन्होंने योग के द्वारा सिद्धियां भी प्राप्त की थीं।

दिन के दस बज रहे थे। यमदग्नि जी की पूजा का समय हो गया था। परशुराम जी की मां रेणुका यमदग्नि जी के स्नान के लिए जल लाने के लिए सरोवर पर गयीं। संयोग की बात, उस समय एक यक्ष सरोवर में कुछ यक्षिणियों

के साथ जल-विहार कर रहा था। रेणुका जी सरोवर के तट पर खड़ी होकर यक्ष के जल-विहार को देखने लगीं। वे उसके जल-विहार को देखने में इस प्रकार तन्मय हो गयीं कि यह बात भूल-सी गयीं कि उनके पति के नहाने का समय हो गया है और उन्हें शीघ्र जल लेकर जाना चाहिए।

कुछ देर पश्चात् रेणुका जी को अपने कर्तव्य का बोध हुआ। वे घड़े में जल लेकर आश्रम में गयीं। घड़े को रखकर यमदग्नि से क्षमा मांगने लगीं। यमदग्नि ने अपने योग की दृष्टि से यह बात जान ली कि रेणुका को जल लेकर आने में क्यों देर हुई।

यमदग्नि जी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि रेणुका के सिर को काट कर धरती पर फेंक दें। किन्तु परशुराम जी को छोड़ कर किसी ने भी उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया। परशुराम जी ने पिता की आज्ञानुसार अपनी मां का मस्तक तो काट ही दिया, अपने भाइयों का भी मस्तक काट दिया।

यमदग्नि जी परशुराम जी के आज्ञापालन से उन पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनसे वर मांगने के लिए कहा। परशुराम जी ने निवेदन किया— पितृश्रेष्ठ, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मेरी मां और मेरे भाइयों को जीवित कर दें।

निदान, परशुराम जी की मां और उनके भाई पुनः जीवित हो उठे।

कामधेनु को पाने पर यमदग्नि को अतीव प्रसन्नता तो हुई थी, किन्तु उन्हें यह जानकर बड़ा दुःख भी हुआ कि परशुराम ने सहस्रबाहु का वध कर दिया है। उन्होंने परशुराम की ओर देखते हुए कहा— बेटा, तुमने सहस्रबाहु का वध करके अच्छा नहीं किया। हम ब्राह्मण की शोभा क्रोध से नहीं, क्षमा से बढ़ती है। क्षमा से ही ब्रह्मा ब्रह्म पद को प्राप्त हुए हैं। राजा ब्राह्मण के सदृश होता है। तुमने सहस्रबाहु का वध करके ब्राह्मण की हत्या की है। तुम्हें हत्या के पाप से मुक्ति पाने के लिए एक वर्ष तक तीर्थों में भ्रमण करना चाहिए।

पिता की आज्ञा को मान कर परशुराम जी तीर्थों की यात्रा में चले गये। वे पूरे वर्ष भर तीर्थों में ही भ्रमण करते रहे। उनके पिता ने इसके लिए हर्ष तो प्रकट किया ही था, उन्हें आशीर्वाद भी दिया था।

उधर सहस्रबाहु के पुत्र अपने पिता का बदला लेने के लिए अवसर ढूंढ़ रहे थे। एक दिन जब परशुराम जी और उनके भाई आश्रम में नहीं थे, तो सहस्रबाहु के पुत्र आश्रम में जा धमके।

यमदग्नि यज्ञमंडप में ध्यानस्थ बैठे थे। सहस्रबाहु के पुत्रों ने उनका मस्तक काट डाला। वे अपने साथ उनका मस्तक भी ले गये।

रेणुका जी विलाप करने लगीं, आर्तनाद करने लगीं। संयोग की बात, परशुराम जी शीघ्र ही आ गये। वे शोकमग्ना अपनी मां के मुख से पिता के शिरोच्छेद किये जाने की बात को सुनकर क्रुद्ध हो उठे। वे अपने परशु को लेकर माहिष्मती की ओर दौड़ पड़े। उन्होंने माहिष्मती को तो उजाड़ ही दिया, सहस्त्रबाहु के पुत्रों को भी मार डाला। उन्होंने अपने पिता का मस्तक लाकर अपनी मां को दिया। रेणुका जी अपने पति के साथ सती हो गयीं।

इस घटना के पश्चात् परशुराम जी ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से विहीन बना दिया था। राम ने उनके क्रोध को शान्त किया। वे पर्वत पर जाकर तप करने लगे। उनकी शूरता और वीरता ने उन्हें अमर बना दिया है।

ययाति का ज्ञान-उदय

(वासना पतन और विनाश का कारण होता है।)

विश्वामित्र जी क्षत्रिय थे, किन्तु उन्होंने कठोर तप करके ब्रह्मर्षि के पद को प्राप्त किया था। उन दिनों ब्रह्मर्षि वही होता था, जिसका जन्म ब्राह्मण के घर में होता था। विश्वामित्र जी ने अपने साहस और पुरुषार्थ से इस प्रथा को तोड़ दिया था।

विश्वामित्र जी के वंशधरों में नहुष बड़ा प्रतापी और तेजस्वी था। उसने इन्द्रलोक पर आक्रमण करके उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। किन्तु वासना के कारण उसे ऋषियों के श्राप का शिकार होना पड़ा था। ऋषियों के श्राप के कारण उसे बहुत दिनों तक अजगर का शरीर धारण करना पड़ा था।

नहुष के छः पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र का नाम यति और छोटे पुत्र का नाम ययाति था। नहुष यति को राजसिंहासन पर बिठाना चाहता था, किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। उसने कहा—राज्य और वैभव से मन में वासना उत्पन्न होती हैं। मैं वासना के पंक में नहीं फंसना चाहता।

जब बड़े पुत्र यति ने राजसिंहासन को स्वीकार नहीं किया, तो नहुष ने अपने कनिष्ठ पुत्र ययाति को राजसिंहासन पर बिठाया; क्योंकि उसके बीच के पुत्र अयोग्य थे। ययाति बड़ा प्रतापी और बड़ा शूरवीर था। वह राजसिंहासन पर बैठकर प्रजा का परिपालन करने लगा।

एक दिन ययाति आखेट के लिए वन में गया। वह घूमता हुआ एक ऐसे स्थान पर पहुंचा, जहां एक सरोवर के तट पर कुआं था। ययाति जब कुएं के पास पहुंचा, तो उसे कुएं के भीतर से एक स्त्री का आर्त कंठस्वर सुनायी पड़ा—मुझे बचाइये, कूप से बाहर निकालिये। वह आर्त कंठस्वर महर्षि शुक्राचार्य जी की पुत्री देवयानी का था। देवयानी दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा और उसकी सखियों के साथ सरोवर में स्नान कर रही थी, तो शर्मिष्ठा ने बाहर निकलकर उसके कपड़े पहन लिये। देवयानी जब इसके लिए उसे फटकार लगाने लगी, तो उसने क्रुद्ध

होकर अपनी सखियों की सहायता से उसे कुएं में गिरा दिया था। वह कुएं के भीतर सहायता के लिए पुकार कर रही थी। संयोग की बात, ययाति घूमता हुआ वहां पहुंच गया।

कुआं अधिक गहरा नहीं था। ययाति ने कुएं के किनारे बैठ कर अपनी लम्बी भुजाओं के द्वारा देवयानी को कुएं से बाहर निकाल लिया।

देवयानी ययाति को पहचानती थी। उसने कुएं से बाहर निकलकर ययाति से कहा— महाराज, दैव की इच्छा से ही आप यहां उपस्थित हुए हैं। दैव की इच्छा से ही आपने मुझे कुएं से बाहर निकाला है। आपके जिन हाथों को पकड़कर मैं कुएं से बाहर निकली हूं, उन हाथों को आजीवन पकड़े रहना चाहती हूं। कृपया मुझे स्वीकार कीजिये।

देवयानी बड़ी सुन्दर थी। ययाति उसके प्रस्ताव को सुनकर उसकी ओर देखने लगा, रह-रहकर देखने लगा।

देवयानी पुनः विनयपूर्वक बोली— महाराज, मैं दैत्यों के गुरु महर्षि शुक्राचार्य की पुत्री हूं, मेरा नाम देवयानी है। मैंने बृहस्पति के पुत्र कच को एक बार अभिशाप दिया था। उसने भी मुझे बदले में अभिशाप दिया था। उसने कहा था— कोई भी ब्राह्मण कुमार तुम्हें ग्रहण नहीं करेगा। महाराज, कच के श्राप के अनुसार भी आप ही मेरे जीवन के स्वामी हैं।

ययाति ने देवयानी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उसने कहा— देवयानी, तुम्हारे पिता की सहमति होने पर मैं अवश्य तुम्हारे साथ विवाह करूंगा।

ययाति देवयानी के प्रस्ताव को स्वीकार करके अपनी राजधानी में लौट गया। देवयानी ने अपने पिता शुक्राचार्य के पास जाकर उन्हें बताया कि किस प्रकार शर्मिष्ठा ने उसे कुएं के भीतर गिरा दिया था, किस प्रकार ययाति ने उसे कुएं से बाहर निकाला, किस प्रकार उसने ययाति के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा और किस प्रकार ययाति ने उसके विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है।

शुक्राचार्य को इस बात से प्रसन्नता तो हुई कि ययाति ने देवयानी के विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, किन्तु वे इस बात को सुनकर बड़े अप्रसन्न हुए कि दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुएं में धकेल दिया था।

शुक्राचार्य इस घटना से क्षुब्ध होकर वृषपर्वा की राजधानी को छोड़कर वन में चले गये।

दैत्यराज वृषपर्वा को जब गुरु की अप्रसन्नता का पता चला, तो वह डर गया। उसने सोचा, कहीं ऐसा न हो कि शुक्राचार्य जी उसे श्राप दे दें।

वृषपर्वा शुक्राचार्य जी को मनाने के लिए वन में गया। देवयानी ने शुक्राचार्य जी की ओर से कहा— पिता जी उसी समय राजधानी में लौट सकते हैं, जब मेरी शर्त को मान लिया जायेगा। मैं चाहती हूं, जहां भी कहीं मेरा विवाह हो, शर्मिष्ठा को वहां मेरी दासी बनाकर भेजा जाये। उसे मेरी सेवा में रखा जाये।

श्राप के डर से वृषपर्वा ने तो देवयानी की शर्त को स्वीकार कर ही लिया, शर्मिष्ठा ने भी स्वीकार कर लिया।

निदान, देवयानी का विवाह ययाति के साथ हो गया। शर्मिष्ठा दासी के रूप में ययाति के राजभवन में जाकर रहने लगी, देवयानी की सेवा में जीवन व्यतीत करने लगी।

शर्मिष्ठा थी तो दैत्यराज की पुत्री, किन्तु देखने में बड़ी सुन्दर थी। मधुरभाषिणी भी थी और व्यवहार में मृदुल भी थी। ययाति उस पर मुग्ध हो गया। वह गुप्त रूप से उससे भी प्रेम करने लगा।

क्रम-क्रम से देवयानी के गर्भ से दो और शर्मिष्ठा के गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न हुए। देवयानी को जब इस बात का पता चला कि शर्मिष्ठा दासी के रूप में नहीं उपपत्नी के रूप में है, तो वह क्रुद्ध होकर अपने पिता के घर चली गयी। शुक्राचार्य जी को जब ययाति के गुप्त प्रेम की बात का पता चला, तो उन्होंने क्रुद्ध होकर उसे श्राप दे दिया— ययाति, तुमने जिस यौवन के मद में मेरी पुत्री को छोड़कर शर्मिष्ठा से प्रेम किया है, वह यौवन तुम्हारे शरीर में नहीं रहेगा। तुम यौवनावस्था में ही वृद्ध हो जाओगे।

फलतः ययाति शुक्राचार्य जी के श्राप के कारण वृद्ध हो गया। वह मन-ही-मन बड़ा दुखी हुआ, क्योंकि वह वासना-लोलुप था। वृद्धावस्था के कारण उसका इन्द्रियों शिथिल हो गयी थीं और उसकी वासना की पूर्ति नहीं हो पा रही थी।

अतः ययाति शुक्राचार्य जी की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने नम्रतापूर्वक शुक्राचार्य जी से निवेदन किया— आपके श्राप से मेरा अहित तो हुआ ही है। आपको ऐसा श्राप नहीं देना चाहिए। कृपा करके कोई ऐसा उपाय कीजिये, जिससे श्राप का प्रभाव कम हो जाये।

शुक्राचार्य जी द्रवित हो उठे। उन्होंने कहा— अगर तुम्हें कोई मनुष्य अपनी युवावस्था को दान में दे दे, तो तुम्हारे शरीर में पुनः यौवन का संचार हो सकता है।

ययाति ने अपने पुत्रों, सम्बन्धियों, मित्रों और प्रेमियों— सबसे यौवन के दान के लिए याचना की, किन्तु कोई भी यौवन का दान देने के लिए तैयार नहीं हुआ।

सोने की तरह चमकती हुई युवावस्था के बदले खांसती हुई वृद्धावस्था को कौन ले सकता था! किन्तु नहीं, एक व्यक्ति इसका अपवाद भी था। वह व्यक्ति था, ययाति का कनिष्ठ पुत्र पुरु। ययाति ने जब उससे उसके यौवन का दान मांगा, तो वह शीघ्र तैयार हो गया। वह बोला— पिताजी, मेरा यह शरीर आपका ही दिया हुआ है। अतः शरीर की अवस्थाओं पर भी आपका अधिकार है। युवा अवस्था मेरी नहीं आपकी है। आप उसे ले सकते हैं। मेरे लिए इससे बढ़कर दूसरी बात और क्या हो सकता है, मेरा शरीर आपके काम में आया। जिस पुत्र का शरीर पिता के काम में आ जाता है, वह पुत्र देवताओं की दृष्टि में भी वन्दनीय होता है।

पुरु ने अपनी युवावस्था का दान ययाति को दे दिया। ययाति के शरीर में पुनः यौवन आ गया। वह पुनः वासनाओं के खेल खेलने लगा।

किन्तु एक दिन ऐसा भी आया, ययाति के मन में वासना से घृणा उत्पन्न हो गयी। मनुष्य जब पाप के घृणित रूप को देखता है, तो उसके मन में अपनेआप ही पाप से घृणा पैदा हो जाती है। ययाति का भी ऐसा ही हुआ। वह वासना के रूप को देखकर कांप उठा। उसके भीतर ज्ञान का सूर्य चमक उठा। उसने सोचा— वासना विष के समान होती है। आग से तो केवल खर-पतवार ही जलता है, किन्तु वासना की आग हड्डियों को ही नहीं, मन को भी जला डालती है। शरीर में यौवन रहने पर वासना की आग को जलने से कोई नहीं रोक सकता। अतः यौवन का परित्याग कर देना चाहिए।

ययाति ने अपने पुत्र का यौवन उसे लौटा दिया। उसके शरीर में पुनः बुढ़ापा आ गया। वह अपने पुत्र को राजसिंहासन सौंप कर वन में चला गया।

ययाति वन में श्री हरि के ध्यान में मग्न रहने लगा। उसे जगत में श्री हरि को छोड़कर और कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता था। वह श्री हरि का ध्यान करता हुआ, उन्हीं में समाविष्ट हो गया। उसके भीतर के ज्ञान ने उसे अमर बना दिया।

दुष्यन्त और शकुन्तला

(संकटों की आग में तपने के पश्चात् ही पुरुष महापुरुष बनते हैं।)

पुरु के वंशधरों में दुष्यन्त बड़े प्रतापी और तेजस्वी थे। उनका राज्य सुदूर तक फैला हुआ था। वे शूरवीर तो थे ही, बड़े प्रजा-पालक भी थे।

एक बार महाराज दुष्यन्त वन में आखेट के लिए गये। वे भ्रमण करते हुए कण्व ऋषि के आश्रम में पहुंचे। ऋषि उस समय आश्रम में विद्यमान नहीं थे। किसी कार्यवश बाहर गये हुए थे।

आश्रम की वाटिका में एक अत्यधिक सुन्दर और युवा कन्या पुष्पों के पौधों को सींच रही थी। दुष्यन्त ने उसके निकट जाकर उससे पूछा– शुभे, तुम किसकी पुत्री हो? यह आश्रम किसका है?

युवती ने उत्तर दिया– यह आश्रम कण्व ऋषि का है। वे मेरे पालक पिता हैं। इस समय आश्रम से बाहर गये हुए हैं। मेरा नाम शकुन्तला है। मैं विश्वामित्र की पुत्री हूं।

दुष्यन्त ने युवती की बात को सुनकर सोचते हुए कहा– मेरा नाम दुष्यन्त है। मैं आखेट के लिए वन में आया था। किन्तु इस समय सन्ध्या हो गयी है। क्या मैं रात आश्रम में बिता सकता हूं?

फलतः दुष्यन्त अतिथि के रूप में आश्रम में टिक गये। वे शकुन्तला के रूप और सौन्दर्य पर पहले ही मुग्ध हो उठे थे। उसकी सेवाओं और उसके आतिथ्य ने उनके मन को बांध लिया। वे कई दिनों तक आश्रम में ठहरे रहे। उनमें और शकुन्तला में प्रेम पैदा हो उठा। उस प्रेम के परिणामस्वरूप शकुन्तला गर्भवती हो गयी। कई दिनों के पश्चात् जब दुष्यन्त आश्रम से जाने लगे, तो उन्होंने अपनी नामांकित अंगूठी शकुन्तला को देते हुए कहा– शकुन्तले, मैं शीघ्र ही आऊंगा और कण्व ऋषि की सहमति से तुम्हें ले जाऊंगा। जब तक मैं न आऊं, तुम इसी अंगूठी के सहारे अपना जीवन व्यतीत करना।

दुष्यन्त शकुन्तला को अंगूठी देकर अपनी राजधानी में चले गये। शकुन्तला

दुष्यन्त के प्रणय-चिह्न अंगूठी के सहारे वियोग के दिन व्यतीत करने लगी।

प्रभात के पश्चात् का समय था। शकुन्तला आश्रम की वाटिका में एक शिला-आसन पर बैठी हुई थी। बड़े ध्यान से अंगूठी की ओर देखती हुई दुष्यन्त की स्मृतियों में डूबी हुई थी। संयोग की बात, उसी समय वहां दुर्वासा जी उपस्थित हुए। शकुन्तला ने न दुर्वासा जी को प्रणाम किया, न उठकर उनका स्वागत ही किया।

फलतः दुर्वासा ने क्षुब्ध होकर शकुन्तला को श्राप दे दिया—तुम जिसकी स्मृति में अपने कर्तव्य को भी भूल गयी हो, वह तुम्हें भूल जायेगा।

कुछ दिनों पश्चात् कण्व ऋषि का आश्रम में आगमन हुआ। उन्होंने शकुन्तला की सखियों के द्वारा यह बात ज्ञात हुई कि उनकी अनुपस्थिति में किस तरह दुष्यन्त यहां आये थे; किस तरह वे अतिथि के रूप में आश्रम में कई दिनों तक ठहरे रहे; किस तरह उनमें और शकुन्तला में प्रणय पैदा हुआ और किस तरह शकुन्तला गर्भवती हो गयी।

कण्व ऋषि को हर्ष और विषाद कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपने शिष्यों के साथ शकुन्तला को दुष्यन्त के पास उसकी राजधानी में भेज दिया।

शकुन्तला ऋषि के शिष्यों के साथ राजधानी की ओर चल पड़ी। मार्ग में उसे प्यास लगी। वह एक नदी के किनारे बैठकर अंजलि में ले-लेकर पानी पीने लगी। दुष्यन्त की अंगूठी उसकी उंगली में थी। दैवेच्छा से अंगूठी उंगली से निकल कर पानी में गिर पड़ी। चमकती हुई अंगूठी को, खाने की वस्तु समझ कर एक मछली उसे निगल गयी।

मछली एक धीवर के जाल में फंसी। धीवर ने जब मछली के पेट को काटा, तो उसे वह अंगूठी प्राप्त हुई, जिस पर दुष्यन्त का नाम लिखा हुआ था।

शकुन्तला बिना अंगूठी के दुष्यन्त के दरबार में उपस्थित हुई। उसने दुष्यन्त को अपना परिचय दिया। किन्तु दुष्यन्त ने उसे पहचानने से इनकार कर दिया। शकुन्तला ने बार-बार अपने प्रेम का स्मरण दिलाया, किन्तु फिर भी दुष्यन्त ने स्वीकार नहीं किया। उसने उसकी प्रत्येक बात का एक ही उत्तर दिया—वह तो उसे जानता तक नहीं है।

शकुन्तला के समक्ष संकट का पहाड़ खड़ा हो गया। वह अब करे तो क्या करे, जाये तो कहां जाये? वह सोचने लगी, मन-ही-मन सोचने लगी।

शकुन्तला ने कण्व ऋषि की आज्ञा के बिना अपने जीवन की बागडोर दुष्यन्त के हाथों में दे दी थी। अतः उसने कण्व ऋषि के आश्रम में जाना उचित नहीं समझा। जिसके प्रेम में डूबकर अपने पालक पिता की उपेक्षा की थी, उसने

उसे ग्रहण करने से इनकार कर दिया था। शकुन्तला वन में एक ऐसी जगह जाकर रहने लगी जहां वनवासी लोग निवास करते थे। वनवासियों की बस्ती में ही एक झोंपड़े में शकुन्तला ने एक बालक को जन्म दिया। उसने अपने उस बालक का नाम भरत रखा था। भरत बड़ा तेजस्वी था।

उधर मछली के पेट से धीवर को जब दुष्यन्त की अंगूठी प्राप्त हुई, तो अंगूठी पर दुष्यन्त का नाम लिखा हुआ पढ़कर वह डर गया। उसने सोचा, यदि किसी को यह बात मालूम हो गयी कि उसके पास दुष्यन्त की अंगूठी है, तो हो सकता है, उस पर चोरी का अभियोग लगे; अत: अच्छी बात यही होगी कि दुष्यन्त को सच्ची बात बताकर अंगूठी उन्हें दे दी जाये।

फलत: धीवर ने मछली के पेट से मिली हुई अंगूठी को दुष्यन्त के दरबार में जाकर उसे दे दिया।

दुष्यन्त ने जब अंगूठी देखी, तो उसे शकुन्तला का स्मरण हो आया। उस समय तो उसे बड़ा दु:ख हुआ, जब उसे यह बात मालूम हुई कि शकुन्तला उसके राजदरबार में आयी थी, किन्तु उसने उसे पहचानने से इनकार कर दिया था। दुष्यन्त आकुल हो उठा। वह मन-ही-मन पश्चात्ताप तो करने ही लगा, यह भी सोचने लगा कि न जाने शकुन्तला कहां गयी होगी, और उसका क्या हाल होगा?

दुष्यन्त रथ पर बैठकर शकुन्तला की ख़ोज में निकल पड़ा। वह कई महीनों तक उसकी खोज में लगा रहा। आखिर, वह वनवासियों की उस बस्ती में पहुंचा, जहां शकुन्तला अपने बालक भरत के साथ एक झोंपड़े में निवास करती थी। भरत की अवस्था छः-सात वर्ष की हो चुकी थी। वह बालसूर्य की तरह तेजोमय ज्ञात होता था।

जिस समय दुष्यन्त ने बस्ती के बाहर खेलते हुए भरत को देखा, वह एक सिंह के बच्चे के मुख को खोलकर उसके दांत गिन रहा था। ऐसा अद्‌भुत बालक दुष्यन्त ने कभी भी नहीं देखा था। देखने की बात तो दूर रही, ऐसा बालक उसकी कल्पना तक में नहीं था। भरत को देखकर दुष्यन्त ने मन-ही-मन सोचा, अवश्य यह बालक किसी राजवंश का ही होगा।

दुष्यन्त ने जब भरत से उसका नाम और उसके माता-पिता का नाम पूछा, तो उसने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया, उसका नाम भरत है। उसकी माता का नाम शकुन्तला और उसके पिता का नाम दुष्यन्त है।

भरत के मुख से शकुन्तला और अपने नाम को सुनकर दुष्यन्त दोनों एक-दूसरे से मिलकर बड़े हर्षित और आनंदित हुए। दुष्यन्त बड़े ही सम्मान के साथ

शकुन्तला और भरत को अपनी राजधानी में ले गया। उसने शकुन्तला के साथ विधिपूर्वक विवाह करके उसे अपनी राजमहिषी और भरत को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया।

बहुत दिनों तक राज्य करने के पश्चात् दुष्यन्त ने भरत को राजसिंहासन पर बैठाया। भरत बड़ा प्रतापी और बड़ा शूरवीर था। उसने अपने नाम पर ही आर्याव्रत का नाम भारत रखा था। वह बहुत दिनों तक राज्य करके स्वर्ग चला गया, किन्तु उसके नाम पर रखा हुआ आर्याव्रत का भारत नाम आज भी उसकी याद दिलाया करता है। जब तक भारत देश पृथ्वी पर रहेगा, भरत का नाम भी विद्यमान रहेगा, सदैव चलता रहेगा।

रंतिदेव

(दूसरों के कष्टों को झेलना परम धर्म है।)

दुष्यन्त के पुत्र महाराज भरत की अपनी कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने भरद्वाज को दत्तक के रूप में गोद लिया था। भरद्वाज के ही वंशधरों में रंतिदेव का जन्म हुआ था। रंतिदेव थे तो नृपति, किन्तु महान त्यागी थे। वे दिन-रात धर्म और त्याग में जीवन व्यतीत करते थे। उनका धर्म था—दूसरों के कष्टों को कम करना और दूसरों को सुख पहुंचाने के लिए अपने को कष्टों की आग में जलाना। रंतिदेव के समान ही उनके कुटुम्बी भी अनन्य धार्मिक और महान त्यागी थे।

रंतिदेव अपने जीवन के प्रति सदा निरासक्त रहते थे। उन्हें जो कुछ मिल जाता था उसे खा लिया करते थे और जो कुछ पा जाते थे उसे पहन लिया करते थे। वे कभी भी संग्रह या संचय नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि जो मनुष्य संग्रह करता है वह दूसरों का भोजन छीनता है।

एक बार रंतिदेव को कई दिनों तक न तो भोजन मिला, न पीने के लिए जल ही मिला। उन्हें और उनके कुटुम्बियों को कई दिनों तक बिना भोजन और जल के रहना पड़ा था।

कई दिनों के पश्चात् रंतिदेव को कहीं से कुछ भोजन और जल प्राप्त हुआ। वे भोजन और जल को अपने कुटुम्बियों में बांट कर खाने के लिए आसन पर बैठे। रंतिदेव हाथ के गास को मुख में डालने ही जा रहे थे कि एक ब्राह्मण आ पहुंचा। ब्राह्मण ने रंतिदेव की ओर देखते हुए कहा— महाराज, कई दिनों से भूखा हूं। कुछ खाने को दीजिये।

रंतिदेव ने अपने भोजन में से थोड़ा-सा भोजन ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मण भोजन को पाकर तृप्त होकर चला गया। उसकी तृप्ति से रंतिदेव को ऐसा सुख प्राप्त हुआ, मानो वह तृप्ति उन्हीं को मिली हो।

ब्राह्मण के जाने के पश्चात् रंतिदेव ने पुनः कौर मुख में डालने के लिए उठाया। किन्तु वे मुख में डालें, उससे पूर्व ही पुनः एक भूखा ब्राह्मण आ गया।

उसने भी उन्हें अपना पेट दिखाते हुए उनसे भोजन की मांग की।

रंतिदेव ने उसे भी भोजन देकर तृप्त किया। जब वह चला गया, तो वे पुनः भोजन करने के लिए बैठे। किन्तु वे भोजन करें, उससे पूर्व ही पुनः एक भूखा मनुष्य आ गया। उसने भी रंतिदेव से भोजन के लिए याचना की।

रंतिदेव ने उसे भी भोजन देकर सुख पहुंचाया। जब वह चला गया, तो रंतिदेव पुनः भोजन करने लगे; किन्तु वे भोजन करें, उससे पूर्व ही एक भूखा मनुष्य पुनः आ गया। उसके साथ चार कुत्ते भी थे। उसने रंतिदेव से दुःख-भरे स्वर में कहा— महाराज, मैं अपने कुत्तों-सहित कई दिनों से भूखा हूं। दया करके हमें भोजन दीजिये।

रंतिदेव ने बचा हुआ सारा भोजन उस भूखे मनुष्य को दे दिया। उनके कुटुम्बियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। उन्होंने और उनके कुटुम्बियों ने केवल जल पीकर ही अपनी भूख शान्त की।

रंतिदेव ने भगवान से प्रार्थना करते हुए कहा— हे प्रभो, हमारे मन में यह बुद्धि सदा बनी रहे। हम सदा दूसरों को सुख पहुंचाने के लिए कष्ट सहन करते रहें।

रंतिदेव के त्याग पर भगवान प्रकट हो उठे। उन्होंने कहा— रंतिदेव मैंने ही भिन्न-भिन्न रूपों में तुम्हारी परीक्षा ली है। तुम मेरी परीक्षा में खरे उतरे हो। तुम मेरे परमपद के अधिकारी हो। जो पद बड़े-बड़े योगियों को भी दुर्लभ है, वह तुम्हें प्राप्त होगा।

रंतिदेव ने जब शरीर का त्याग किया, तो उन्हें सचमुच भगवान का परमपद प्राप्त हुआ। जो मनुष्य दूसरों के कष्टों को अपना कष्ट मान कर झेलता है, उसे रंतिदेव के समान ही भगवान का परमपद प्राप्त होता है।

वसुदेव और देवकी का विवाह

(जब अत्यधिक पाप बढ़ जाता है, तो पृथ्वी व्याकुल हो उठती है।)

दैत्य जब युद्ध में हार गये, तो उन्होंने एक दूसरा ढंग अपनाया। वे राजाओं के रूप में पृथ्वी पर जन्म लेकर ऋषियों और मुनियों को सताने लगे और यज्ञों में विघ्न पैदा करने लगे। परिणामतः पृथ्वी पर चारों ओर अधर्म होने लगा, अत्याचार होने लगा।

पृथ्वी अधर्म और अत्याचार से व्याकुल हो उठी। वह गाय का रूप धारण करके देवताओं के पास गयी। पृथ्वी ने आंखों में अश्रु भर कर देवताओं से कहा— मैं पाप और अधर्म से अधिक दुःख पा रही हूं, मेरी रक्षा करो।

देवता पृथ्वी-रूपी गाय को लेकर ब्रह्मा जी की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने ब्रह्मा जी को बताया कि पृथ्वी पर अनेक असुरों ने जन्म धारण किया है। वे भक्तों, संतों और धर्मप्रेमियों को अत्यधिक कष्ट दे रहे हैं। यदि उन्हें दंड न दिया गया, तो पृथ्वी पर से धर्म मिट जायेगा।

ब्रह्मा जी देवताओं और पृथ्वी-रूपी धेनु को संग में लेकर विष्णुलोक में गये। ब्रह्मा जी भगवान विष्णु की प्रार्थना करते हुए समाधिस्थ हो गये। भगवान विष्णु ने उन्हें अपना संदेश दिया।

ब्रह्मा जी ने देवताओं और पृथ्वी-रूपी गाय को भगवान का संदेश सुनाया— देवताओ और पृथ्वी, मुझे तुम्हारे दुःख और तुम्हारी विकलता का पता है। मैं पृथ्वी के दुःख को दूर करने के लिए शीघ्र ही वासुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ से जन्म धारण करूंगा। मेरा नाम कृष्ण होगा। मैं जन्म धारण करते ही गोकुल चला जाऊंगा। गोकुल में बाल-लीलाएं करूंगा और कंस को मारकर पृथ्वी के भार को कम करूंगा।

ब्रह्मा जी के द्वारा भगवान के संदेश को सुनकर पृथ्वी सहित देवता आश्वस्त हुए। सब अपने-अपने लोक में जाकर उत्सुकतापूर्वक भगवान के अवतार की प्रतीक्षा करने लगे।

उन दिनों मथुरा में उग्रसेन का राज्य था। उग्रसेन स्वयं तो साधु प्रकृति के

थे, किन्तु उनका पुत्र कंस बड़ा अत्याचारी और बड़ा अधर्मी था। उसने उग्रसेन को विवश बनाकर सम्पूर्ण राजसत्ता अपने हाथों में ले ली। वह भक्तों, संतों और धर्मप्रेमियों को अपने अत्याचारों की आग में जलाया करता था। उसके अत्याचारों के कारण चारों ओर से पाहिमाम्, पाहिमाम् की पुकार उठने लगी।

उग्रसेन के छोटे भाई का नाम देवक था। देवक की पुत्री का नाम देवकी था। गर्ग मुनि की सलाह से देवकी का विवाह शूरसेन के पुत्र वसुदेव के साथ बड़े ठाट-बाट के साथ सम्पन्न हुआ था।

विवाह के पश्चात् वसुदेव अपनी पत्नी के साथ रथ पर बैठकर अपने घर जा रहे थे। कंस स्वयं रथ हांक रहा था। वह बड़े प्रेम से अपनी बहन को उसकी ससुराल में पहुंचाने जा रहा था। रथ यमुना के किनारे-किनारे राजमार्ग से होकर वसुदेव के घर की ओर बढ़ता जा रहा था, बढ़ता जा रहा था।

जब रथ मथुरा नगर की सीमा से कुछ आगे गया, तो कंस को आकाशवाणी सुनायी पड़ी—कंस, आज तू अपनी जिस बहन को बड़े प्रेम के साथ उसकी ससुराल में छोड़ने जा रहा है, उसके गर्भ का आठवां पुत्र तेरा काल बनेगा।

आकाशवाणी को सुनकर कंस चौंक उठा—अरे यह क्या? देवकी के गर्भ का आठवां पुत्र मेरा काल बनेगा? आकाशवाणी कभी भी असत्य नहीं होती।

कंस ने रथ को रोक दिया। वह हाथ में खड्ग लेकर रथ से नीचे उतर पड़ा। उसने वसुदेव की ओर देखते हुए उनसे कहा—वसुदेव जी, अभी-अभी ज़ो आकाशवाणी हुई है, वह आपने भी सुनी होगी?

वसुदेव जी ने उत्तर दिया—हां, सुनी तो है; पर आप यह क्यों पूछ रहे हैं कुमार?

कंस बोला—वसुदेव जी, आकाशवाणी के अनुसार देवकी के आठवें गर्भ का बालक मेरा काल होगा।

कंस अपने कथन को समाप्त करके विचारों की लहरों में डूब गया। वसुदेव जी बड़े ध्यान से उसकी मुख-मुद्रा देखने लगे, रह-रहकर देखने लगे।

कंस सोचता हुआ, भौंहें नचाकर बोला—वसुदेव जी, जिस देवकी के गर्भ का आठवां बालक मेरा काल बनेगा, उस देवकी को मैं जीवित नहीं छोड़ सकता।

वसुदेव जी विस्मय-भरे स्वर में बोल उठे—यह आप क्या कह रहे हैं कुमार? देवकी आपकी छोटी बहन है। क्या आप अपनी छोटी बहन को जीवित नहीं छोड़ेंगे?

कंस भौंहे टेढ़ी करके बोला—वसुदेव जी, जिसके गर्भ का आठवां बालक

मेरा काल बनेगा, वह मेरी बहन कैसे हो सकता है? वह तो मेरी शत्रु है। मैं उसे कदापि जीवित नहीं छोड़ सकता। जब वह जीवित ही नहीं रहेगी, तो फिर उसके गर्भ से आठवां बालक कैसे उत्पन्न होगा?

कंस ने खड्ग की मूंठ कसकर पकड़ ली। वसुदेव ने उसकी ओर देखते हुए कहा— कुमार, क्या तुम अपनी उस बहन को मार डालोगे, जिसके हाथों की मेंहदी और पैरों के महावर की रेखाएं अभी धूमिल नहीं हुई हैं? संसार के लोग क्या कहेंगे कुमार?

कंस दृढ़ता के साथ बोला— हां वसुदेव जी, मैं अब अपनी बहन देवकी को जीवित नहीं रहने दूंगा। संसार के लोग कुछ भी कहें, मुझे बिलकुल चिन्ता नहीं है।

कंस देवकी की हत्या करने के लिए उद्यत हो गया। वसुदेव जी सोचने लगे, गम्भीरतापूर्वक सोचने लगे।

वसुदेव जी ने सोचते हुए कहा— कुमार, आपका काल देवकी नहीं है, देवकी का पुत्र होगा। आप देवकी की हत्या न करें। मैं आपको वचन देता हूं कि देवती के गर्भ से जितने भी पुत्र पैदा होंगे, मैं उन्हें लाकर आपको दे दिया करूंगा। आप उनकी हत्या करके अपनी इच्छा की पूर्ति कर सकते हैं।

कंस को पता था कि वसुदेव जी अपने वचन के पक्के हैं। फिर भी वह वसुदेव जी पर एहसान प्रकट करते हुए बोला— वसुदेव जी, मैं आपकी बात पर विश्वास करके देवकी को छोड़ दे रहा हूं। किन्तु यदि आपने अपने वचन को नहीं निबाहा, तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा।

वसुदेव जी ने दृढ़ता के साथ कहा— विश्वास रखिये कुमार, कभी ऐसा नहीं होगा, नहीं होगा। मैं अवश्य देवकी के गर्भ से पैदा हुए सभी पुत्रों को आपको दे दिया करूंगा।

यद्यपि कंस को वसुदेव की बात का विश्वास था, किन्तु फिर भी उसने वसुदेव और देवकी को उनके घर में ही नजरबंद करके उन पर पहरा बैठा दिया था।

कुछ दिनों के बाद देवकी के गर्भ से प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। वसुदेव जी ने उसे ले जाकर कंस के सुपुर्द कर लिया। कंस वसुदेव की सत्यनिष्ठा पर जहां प्रसन्न हुआ, वहां उसने यह भी सोचा कि वसुदेव का प्रथम पुत्र तो मेरा काल है नहीं। फिर इसे क्यों मारा जाये?

कंस ने वसुदेव के प्रथम पुत्र की हत्या न करके उसे लौटा दिया।

जब कंस ने वसुदेव के प्रथम पुत्र को लौटा दिया, तो नारद जी ने कंस के

पास जाकर उसे समझाया कि तुमने वसुदेव के प्रथम पुत्र को लौटाकर अच्छा नहीं किया। कौन जाने वसुदेव का प्रथम पुत्र ही उनका आठवां पुत्र हो? यदि तुम आठ तक की गिनती को उलटा गिनो, तो आठ पहला और पहला आठवां पुत्र होगा।

नारद जी के इस कथन का कंस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने वसुदेव के प्रथम पुत्र की हत्या तो कर ही दी, वसुदेव और देवकी को मथुरा के कारागार में बन्द करके उन पर कड़ा पहरा बिठा दिया।

कंस के पिता उग्रसेन ने जब वसुदेव और देवती के बन्दी किये जाने का विरोध किया, तो उनसे राजसत्ता छीन ली और उन्हें भी बन्द कर दिया। वह उग्रसेन को बन्द करके बड़ी क्रूरता के साथ अत्याचार करने लगा। उसने पूजा-पाठ तो बन्द करवा ही दिये, अपने को भगवान भी घोषित कर दिया। उसकी आज्ञा का विरोध करनेवाला उस समय कोई नहीं था, कोई नहीं था। पापियों और अत्याचारियों का जब विनाश का समय निकट आ जाता है तो उससे पूर्व इसी तरह सन्नाटा छा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण का जन्म

(पापियों के विनाश के लिए निराकार भगवान साकार बनते हैं।)

मथुरा के कारागार में बन्द देवकी ने एक-एक करके छः पुत्रों को जन्म दिया, किन्तु उसका एक भी पुत्र सुरक्षित नहीं रह सका। कंस ने देवकी के सभी पुत्रों को पैदा होते ही मार डाला। देवकी और वसुदेव दोनों केवल आंसू बहाकर रह जाते थे।

जब देवकी के गर्भ में उनका सातवां पुत्र आया, तो भगवान ने अपनी योगमाया को बुला कर उनसे कहा— योगमाया, देवकी मथुरा के कारागार में बन्द है। उसके गर्भ से शेष उत्पन्न होने जा रहा रहे हैं। तुम शेष को देवकी के गर्भ से निकाल कर वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी के गर्भ में स्थापित कर दो। वे रोहिणी के गर्भ से पैदा होंगे। उनका नाम बलराम होगा। मैं स्वयं देवकी के गर्भ से जन्म धारण करूंगा। तुम गोकुल में नन्द की पत्नी यशोदा के गर्भ से जन्म धारण करो।

योगमाया ने भगवान की आज्ञा का पालन किया।

भाद्रपद की कृष्ण अष्टमी की रात्रि थी। रोहिणी नक्षत्र था। अर्धरात्रि का समय था। भगवान मथुरा के कारागार में प्रकट हुए। ब्रह्मा आदि देवता वहां पहुंच कर भगवान की प्रार्थना करने लगे— भगवान, आप सर्वव्यापक हैं, सर्व दुःखहारी हैं। सारा ब्रह्मांड आपसे ही परिचालित है; सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और उपग्रह आदि सब आपसे ही प्रकाशित हैं। आप दीनों के बन्धु हैं। सज्जनों के त्राता हैं। धर्मप्रेमियों को सुख देनेवाले हैं। हम सब आपकी शरण में हैं। कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये।

ब्रह्मा आदि देवता जब भगवान की प्रार्थना करके चले गये, तो भगवान बालक के रूप में वसुदेव और देवकी को दिखायी पड़े। उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्य था। वे विभाकर के सदृश तेजोमय दिखायी पड़ रहे थे। वसुदेव और देवकी दोनों ने क्रम-क्रम से भगवान की वन्दना की।

भगवान बालक के रूप में देवकी की गोद में रुदन करने लगे।

भगवान ने वसुदेव जी को आदेश दिया था कि जब वे बालक-रूप में रुदन

करने लगें, तो उन्हें गोकुल में नन्द की पत्नी यशोदा के पास पहुंचा दिया जाये और यशोदा से उत्पन्न नवजात बालिका को ला कर देवकी को दे दिया जाये।

भगवान श्रीकृष्ण जब बालक के रूप में रुदन करने लगे, तो उनकी योगमाया के कारण कारागार के सभी फाटक खुल गये और फाटकों पर नियुक्त प्रहरी सो गये। वसुदेव जी भगवान की आज्ञानुसार उन्हें एक टोकरे में सुला कर, टोकरे को सिर पर रख कर कारागार से बाहर निकल पड़े। अंधेरी रात थी। आकाश में बादल छाये हुए थे। हवा धीरे-धीरे चल रही थी। रह-रहकर बूंदें भी पड़ रही थीं। वसुदेव जी सिर पर टोकरा लिये हुए यमुना के किनारे जा पहुंचे।

यमुना बढ़ी हुई थी। बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही थीं। वसुदेव जी बढ़ी हुई यमुना को देख कर डर गये। वे बढ़ी हुई यमुना में घुसें तो किस तरह घुसें? वसुदेव जी शंकित चित्त से सोचने लगे, रह-रहकर सोचने लगे।

सहसा वसुदेव जी के भीतर से आवाज-सी सुनायी पड़ी— वसुदेव जी, डरिये नहीं। यमुना को पार करने के लिए आगे बढ़िये। वसुदेव जी साहस करके यमुना में घुस पड़े। जब उनकी नाक तक पानी पहुंचा तो वे घबड़ा उठे। उसी समय टोकरे में सोये हुए शिशु रूप भगवान श्रीकृष्ण ने अपना दाहिना पैर टोकरे से बाहर निकाल दिया। भगवान श्री कृष्ण के स्पर्श मात्र से यमुना का पानी घट गया। इतना घट गया कि वसुदेव जी के घुटनों तक रह गया। वे बड़ी सरलता के साथ यमुना के उस पार गोकुल जा पहुंचे।

गोकुल में भी योगमाया ने अपना चमत्कार प्रकट कर रखा था। यशोदा के घर का द्वार खुला हुआ था। घर के सभी लोग निद्रित थे। स्वयं यशोदा भी एक बालिका को जन्म देकर निद्रित हो गयी थीं। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि उन्होंने लड़के को जन्म दिया है या लड़की को।

वसुदेव जी ने टोकरे से उठा कर शिशु-रूप भगवान श्रीकृष्ण को यशोदा की बगल में सुला दिया और यशोदा से उत्पन्न बालिका को अपने टोकरे में रख लिया। वे सिर पर टोकरा रख कर जिस प्रकार मथुरा से गोकुल पहुंचे थे, उसी प्रकार गोकुल से मथुरा भी जा पहुंचे।

मथुरा में कारागार के फाटक अभी तक खुले हुए थे, प्रहरी भी पहले की तरह सो रहे थे। वसुदेव जी बिना किसी विघ्न-बाधा के कारागार में अपनी कोठरी में जा पहुंचे। उनके कोठरी में पहुंचते ही फिर फाटक बंद हो गये। प्रहरी जाग उठे और पहरा देने लगे।

वसुदेव जी ने टोकरे में सोयी हुई बालिका को उठाकर अपनी पत्नी की गोद

में दे दिया। बालिका रुदन करने लगी— केहां, केहां।

बालिका के रुदन को सुनकर प्रहरी चौंक उठे— अरे यह क्या? क्या देवती के गर्भ का आठवां पुत्र पैदा हो गया?

उधर कंस बड़ी उत्सुकता के साथ देवकी के आठवें बालक के जन्म की प्रतीक्षा कर रहा था, उसका एक-एक दिन युग के समान बीत रहा था। वह बड़ी चिंता के साथ सोचा करता था, कब देवकी का आठवां पुत्र पैदा हो और वह कब मार कर चिन्ता रहित हो जाये। उसने पहरेदारों को कड़ा आदेश दे रखा था कि ज्यों ही देवकी के गर्भ से आठवां बालक उत्पन्न हो, उसे तुरंत सूचना दी जाये।

अत: नवजात बालक के रुदन को सुन कर प्रहरी दौड़ पड़े। उन्होंने कंस के पास जाकर उसे सूचना दी— महाराज, देवकी के गर्भ से उसका आठवां पुत्र पैदा हुआ है।

कंस हाथ में खड्ग लेकर आंधी की भांति दौड़ पड़ा। उसने कारागार में वसुदेव की कोठरी में जाकर, देवकी की गोद से बालिका को झपट कर छीन लिया। वह बालिका को देख कर चिल्ला उठा— अरे यह तो बालक नहीं, बालिका है! आकाशवाणी, आकाशवाणी!!

कंस कुछ क्षणों तक सोचता रहा। फिर वह उन्मत्त की तरह बोला— बालिका हो या बालक, है तो आठवीं सन्तान। मैं इसे जीवित नहीं छोड़ूंगा, नहीं छोड़ूंगा।

देवकी चीख उठी। वह उठकर कंस के हाथ से बालिका को छीनने लगी। उसने बालिका को छीनते हुए बड़े ही सकरुण स्वर में कहा— भैया, तुमने मेरे सात पुत्रों की हत्या करके मेरी गोद उजाड़ दी। अब इस बालिका को तो जीवित रहने दो।

कंस निर्दयतापूर्वक देवकी को धकेलता हुआ बोला— नहीं देवकी, नहीं। यह तुम्हारी आठवीं सन्तान है। मैं इसे कदापि जीवित नहीं रहने दूंगा, कदापि जीवित नहीं रहने दूंगा।

कंस ने देवकी को धकेल कर, बालिका का एक पैर हाथ से पकड़ लिया। वह बालिका को घुमाकर, उसे एक शिला पर पटक कर मार डालना चाहता था, किन्तु बालिका आश्चर्यजनक ढंग से छूट कर आकाश में जा पहुंची। उसने आकाश में जाकर घोषणा की— पापी कंस, तेरा काल पैदा हो चुका है। अब तेरे जीवन के दिन बहुत कम रह गये हैं। तू सावधान हो जा।

कंस ने घोषणा को सुनकर विस्मय-भरी दृष्टि से आकाश की ओर देखा। आश्चर्य, उसे आकाश में बालिका के स्थान पर अष्टभुजा देवी दिखायी पड़ी। कंस

के मस्तक पर पसीना निकल आया। वह टकटकी लगा कर आकाश की ओर देखने लगा, मूक बन कर देखने लगा।

अष्टभुजा देवी घोषणा करने के पश्चात् अदृश्य हो गयीं। कहते हैं, वे विन्ध्य पर्वत पर जाकर स्थापित हो गयीं। आज भी मिर्ज़ापुर जिले में विन्ध्याचल के पास विन्ध्या पर्वत पर अष्टभुजा की मूर्ति स्थापित है। लाखों नर-नारी प्रति वर्ष उस मूर्ति का दर्शन करते हैं, सुख और आनन्द प्राप्त करते हैं।

कंस कुछ देर तक खड़ा-खड़ा सोचता रहा। उसके सामने ही देवकी करुण क्रन्दन कर रही थी। वसुदेव जी उदास मन से चुपचाप खड़े थे। कंस उन्हें सम्बोधित करता हुआ बोला— वसुदेव जी, मैंने आपके सात-सात पुत्रों की हत्या कर दी, किन्तु फिर भी मेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हो सका। आपने भी सुना होगा, अष्टभुजा देवी ने क्या कहा— कंस, तुम्हारा काल पैदा हो चुका है। वसुदेव जी, मनुष्य सोचता कुछ है, पर होता कुछ है। आप अवश्य मुझ पर क्रोध करते होंगे। सच बात तो यह है कि मैंने जो कुछ किया, आपके और अपने कर्मों के अनुसार ही किया है। जो कुछ भी होता है, कर्मों के अनुसार ही होता है।

कंस की ज्ञान से भरी हुई वाणी को सुन कर वसुदेव जी के मन में बड़ा आश्चर्य पैदा हुआ। उन्होंने विस्मय-भरी दृष्टि से कंस की ओर देखते हुए कहा— हां कुमार, आप सच कह रहे हैं। जो घटना घटी है, मेरे कर्मों के अनुसार ही घटी है। मेरे भाग्य में ही लिखा था कि मैं सदा सन्तान के लिए तड़पता रहूं। सचमुच, आपका कोई दोष नहीं है, कोई दोष नहीं है।

वसुदेव जी के कथन को सुनने के पश्चात् कंस बड़ी तीव्र गति से कारागार से बाहर निकल गया। उसकी दशा उस मनुष्य की सी हो गयी थी जिसका सब-कुछ लुट गया हो, जिसका सब-कुछ नष्ट हो गया हो।

कंस ने अपने भवन में जाकर शीघ्र ही अपने मंत्रियों की बैठक बुलायी। उसने अपने मंत्रियों को बताया कि देवकी की गोद में पुत्र नहीं पुत्री थी। उसने जब उस पुत्री के पैर को पकड़ कर उसे शिला पर पटकने का प्रयत्न किया, तो वह उसके हाथ से छूट कर आकाश में चली गयी। उसने आकाश में अष्टभुजा देवी का रूप धारण करके घोषणा की— कंस, तुम्हारा काल पैदा हो चुका है।

कंस अपने कथन को समाप्त करता हुआ चिन्ता की लहरों में डूब गया। कुछ देर तक मन-ही-मन सोचता रहा, फिर मंत्रियों की ओर देखता हुआ बोला— यदि अष्टभुजा देवी का कथन सत्य है, तो अब मुझे क्या करना चाहिए?

मंत्रियों ने सोचते हुए उत्तर दिया— महाराज, अब तो एक ही उपाय है। एक

सप्ताह में मथुरा मण्डल में जितने बालक पैदा हुए हैं, उन सबकी हत्या कर दी जाये।

कंस को मंत्रियों की राय अच्छी लगी। वह आवेश में बोल उठा—ऐसा ही होना चाहिए, ऐसा ही होना चाहिए।

कंस अपने कथन को समाप्त करता हुआ तीव्र गति से अपने अंत:पुर में चला गया। उसके पश्चात् तो सम्पूर्ण मथुरा मंडल में नवजात बालकों के लिए प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। इतने बालकों की हत्या की गयी थी कि यमुना का पानी भी लाल हो गया। फिर भी कंस का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सका और वह भगवान श्रीकृष्ण का पता तक नहीं पा सका। भगवान के समक्ष किसी की भी कुछ नहीं चलती। होता वही है, जो भगवान चाहते हैं।

शिशु-लीला

(परमात्मा की शिशु-लीला भी बड़ी चमत्कारिणी होती है।)

कंस जब देवकी के आठवें पुत्र को मारने में असफल रहा, तो उसने वसुदेव और देवकी को कारागार से मुक्त कर दिया। वे अपनी इच्छानुसार आने-जाने लगे। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कंस की उन पर कड़ी दृष्टि रहती थी। स्वयं वसुदेव जी भी कंस से सावधान और सतर्क रहा करते थे।

वसुदेव जी की एक और पत्नी थी– रोहिणी। रोहिणी गर्भवती थी। कंस ने जब वसुदेव और देवकी को कारागार में बन्द कर दिया तथा उनके पुत्रों की हत्या कर दी, तो रोहिणी भी शंकित और भयभीत हो उठी। उसने सोचा, कहीं ऐसा न हो कि कंस उसके पुत्र की भी हत्या कर दे। अत: एक दिन वह वेश बदल कर गोकुल में नन्द के घर चली गयी। नन्द गोपों और ग्वालों के अधिपति थे। वसुदेव जी से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। नन्द के घर में ही रोहिणी ने बालक को जन्म दिया। आगे चलकर रोहिणी का यही बालक बलराम या बलदाऊ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बलराम जी शेष भगवान के अवतार थे। नन्द ने उनका पालन-पोषण अपने पुत्र के समान किया था।

नन्द की अपनी कोई सन्तान नहीं थी। जब यशोदा गर्भवती हुईं, तो नन्द के हृदय में हर्ष का सागर उमड़ उठा। वे बड़ी उत्सुकता के साथ उसी दिन से सन्तान की प्रतीक्षा करने लगे।

नन्द जी को जब इस बात का पता चला कि यशोदा ने पुत्र को जन्म दिया है, तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। जिस तरह पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर सागर तरंगित हो उठता है, उस प्रकार पुत्र-जन्म के समाचार से नन्द के हृदय में हर्ष की लहरें पैदा हो उठीं। केवल नन्द के हृदय में ही नहीं, सारे गोकुल में आनन्द का सागर उमड़ उठा। नन्द के द्वार पर मांगलिक बाजे बजने लगे। बधाइयां गायी जाने लगीं। केवल नन्द के द्वार पर ही नहीं, गोकुल के घर-घर से बधाइयों के गीत के स्वर निकलने लगे। नन्द का घर तो बन्दनवारों से सुसज्जित

हो ही गया, सारा गोकुल भी बन्दनवारों, तोरणों और चौकों से सुसज्जित हो गया। दल-के-दल में गोप और गोपियां तरह-तरह की भेंट-सामग्रियां लिये हुए मंगल-गीत गाती हुईं नन्द के घर की ओर चल पड़ीं। ऐसा लगने लगा मानो नन्द का द्वार कोई तीर्थ हो। सचमुच नन्द का द्वार पवित्र तीर्थ ही बन गया था। जिस घर में भगवान श्रीकृष्ण ने जन्म लिया हो, उस घर का द्वार पवित्र तीर्थ नहीं बनेगा तो और क्या बनेगा!

गोपों और गोपियों ने तरह-तरह की भेंटें नन्द बाबा को प्रदान कीं। नन्द बाबा ने उनका स्वागत किया, सत्कार किया और सम्मान किया। उन्होंने ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी और गरीबों को भोजन दिया। पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में दान और दक्षिणा का क्रम चलता रहा, मंगल-वाद्य बजते रहे और बधाइयों के गीत-स्वर वायुमंडल में गूंजते रहे। केवल नन्द बाबा के द्वार पर ही नहीं, सम्पूर्ण गोकुल में आनन्द और हर्ष का बसंत छा गया था। कई दिनों के पश्चात् नन्द बाबा को फिर अपने काम-काज की सुधि आयी। मथुरा के राजा कंस को कर चुकाने का समय आ गया था। अत: नन्द बाबा कुछ गोपों के साथ कर चुकाने के लिए मथुरा चले गये।

मथुरा में जब वसुदेव जी को नन्द जी के आगमन का समाचार मिला तो वे बड़ी सावधानी के साथ उनके पास गये। दोनों मित्र परस्पर मिलकर बड़े हर्षित हुए। वसुदेव जी तो इस बात को जानते थे। वसुदेव जी नन्द जी से मिलकर अपने पुत्र का कुशल-समाचार भी जानना चाहते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने पुत्र के सम्बन्ध में कुछ नहीं पूछा, किन्तु नन्द जी के रंग-ढंग से उन्होंने यह समझ लिया कि उनका पुत्र सकुशल और सानन्द है तथा उसे पाकर नन्द जी को अपार आनन्द प्राप्त हुआ है।

वसुदेव जी ने नन्द से मिलकर जहां हर्ष प्रकट किया, वहां उन्होंने उन्हें सतर्क करते हुए कहा— नन्द जी, आपको अधिक दिनों तक गोकुल से बाहर नहीं रहना चाहिए। आजकल चारों ओर उपद्रव हो रहे हैं। छोटे-छोटे बालकों की भी हत्याएं की जा रही हैं। कब क्या होगा, इस बात को कोई नहीं जानता। अत: आपको शीघ्र ही मथुरा से गोकुल चला जाना चाहिए।

वसुदेव जी के कथन को सुनकर नन्द बाबा के हृदय में भय और आशंका उत्पन्न हो उठी। उनके कानों में भी यह समाचार पड़ चुका था कि कंस के राक्षस सैनिक चारों ओर नवजात बालकों की हत्या कर रहे हैं। वे यह सोचकर कांप उठे कि कहीं कंस के राक्षस सैनिक गोकुल में भी पहुंचकर उनके पुत्र का अपकार न

करें। अतः नन्द जी शीघ्र ही अपने साथियों के साथ मथुरा से गोकुल के लिए चल पड़े।

नन्द जी वसुदेव को बहुत बड़ा महात्मा समझते थे। वसुदेव ने जब उन्हें सतर्क किया, तो नन्द को उनके कथन में एक सत्य झलकता हुआ दिखायी पड़ा। फलतः वे उसके पश्चात् मथुरा नहीं रुक सके। वे धड़कते हुए हृदय से गोकुल के लिए चल पड़े— अपने पुत्र की मंगल-कामना करते हुए चल पड़े। यद्यपि कंस को निश्चित रूप से इस बात का पता नहीं चल सका था कि उसके काल का जन्म कहां हुआ है, पर पुत्र-जन्म-उत्सव के उपलक्ष्य में नन्द के घर में जो बधाइयां गायी गयीं और जो मंगलवाद्य बजे, उनकी सूचना तो कंस के पास पहुंच ही गयी। परिणामतः कंस ने नन्द के पुत्र को मारने के लिए अपने राक्षस सैनिक नियुक्त कर दिये।

नन्द बाबा अभी गोकुल के मार्ग में ही थे कि पूतना गोकुल में नन्द बाबा के घर गोपी का रूप धारण करके जा पहुंची। प्रभात के पश्चात् का समय था। यशोदा ने कृष्ण शिशु को दूध पिलाकर पालने में सुला दिया था। वे किसी अन्य कामकाज में व्यस्त हो गयी थीं। पूतना ने चुपके से घर में प्रवेश करके, कृष्ण को पालने से उठा लिया। वह पैर फैलाकर बैठ गयी और कृष्ण को अपनी स्तनों का दूध पिलाने लगी।

पूतना एक राक्षसी थी। वह वेश बदलने और छोटे-छोटे बच्चों को मार डालने में बड़ी दक्ष थी। वह अपने स्तनों में विष लगाकर जाती थी और बच्चों को अपने स्तनों का दूध पिलाने लगती थी। जो भी बच्चा उसके स्तनों को मुख में डाल लेता था, उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते थे। पूतना ने सोचा था, यशोदा का पुत्र भी उसके स्तनों को मुख में डालते ही निष्प्राण हो जायेगा। उसे क्या पता था कि यशोदा का पुत्र साधारण बालक नहीं है। वह नटनागर है, तीनों लोकों का नायक है। वह कुछ न जानते हुए भी सब-कुछ जानता है। वह छोटे-से शिशु के रूप में होते हुए भी अनन्त शक्तियों का सागर है। वह काल का भी काल है— महाकाल है।

पूतना ने जब विष लगे हुए अपने दोनों स्तनों को कृष्ण के मुख में डाला, तो उन्होंने अपने दोनों हाथों से उसके दोनों स्तन पकड़ लिये। पूतना को ऐसा लगा, जो हाथ उसके स्तनों को पकड़े हुए हैं वे वज्र की तरह कठोर हैं। कृष्ण पूतना के स्तनों को पकड़ कर जोर से खींचने लगे। उन्होंने इतने जोरों के साथ उसके स्तनों को पकड़ कर खींचा कि उसका हृदय ओठों पर आ गया। वह बड़े जोर से

चीत्कार करती हुई धरती पर गिर पड़ी और गिरते ही निष्प्राण हो गयी। उसका वास्तविक रूप भी प्रकट हो गया।

पूतना का चीत्कार यशोदा के कानों में भी पड़ा। वे दौड़कर शीघ्र ही कृष्ण के पालने के पास जा पहुंचीं। उन्होंने जो कुछ देखा उससे उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। श्रीकृष्ण राक्षसी पूतना की छाती पर हाथों और पैरों को फटकार रहे थे। भयानक मुख वाली राक्षसी पूतना धरती पर बेदम पड़ी हुई थी।

यशोदा ने दौड़कर श्रीकृष्ण को अपनी गोद में उठा लिया। वे उनकी बलइयां लेने लगीं, देवी-देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लगीं। बिजली की तरह यह खबर गोकुल के घर-घर में जा पहुंची। गोप और गोपियां दौड़ती हुई यशोदा के द्वार पर एकत्र हुईं। उन्होंने जब पूतना को देखा और यह सुना कि यशोदा के छोटे-से पुत्र ने राक्षसी को मार डाला है, तो सबके सब आश्चर्यचकित हो उठे। सबके मुख से एक साथ ही निकल पड़ा—यशोदा का पुत्र कोई चमत्कारिक महान पुरुष है।

नन्द बाबा जब घर पहुंचे तो उन्हें भी घटना का विवरण सुनाया गया। उन्होंने घटना के विवरण को सुनकर मन-ही-मन सोचा, वसुदेव जी ठीक ही कह रहे थे। मुझे इस समय गोकुल से बाहर नहीं जाना चाहिए था।

पूतना के द्वारा श्रीकृष्ण का अमंगल न होने की प्रसन्नता में नन्द बाबा ने ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी, पूजा-पाठ कराया और गरीबों को भोजन तथा वस्त्र दिये। उन्होंने भगवान के प्रति अत्यधिक कृतज्ञता प्रकट की कि उनके प्यारे पुत्र की राक्षसी के द्वारा रंचमात्र भी हानि नहीं हुई।

पूतना के मारे जाने की खबर को सुनकर कंस आशंकित हो उठा। वह यह सोचे बिना नहीं रहा कि हो न हो, नन्द का वह पुत्र ही देवकी के गर्भ का आठवां पुत्र है। क्योंकि पूतना का मारा जाना बड़ा ही आश्चर्यजनक है। उसे कोई बालक क्या, कोई महाबली पुरुष भी सरलतापूर्वक नहीं मार सकता।

अत: पूतना की मृत्यु के पश्चात् कंस नन्द के पुत्र को मारने के लिए अपने राक्षसों को क्रम-क्रम से भेजने लगा। नन्द बाबा भी उस दिन से अधिक सावधान और सतर्क रहने लगे। केवल नन्द बाबा ही नहीं, गोकुल के समस्त गोप और गोपियां भी अधिक सावधान रहने लगे। फिर भी आये-दिन कोई-न-कोई आश्चर्यजनक घटना घट ही जाया करती थी।

एक दिन दोपहर के पश्चात् का समय था। यशोदा जी ने कृष्ण को दूध पिलाकर एक छोटे-से पलंग पर एक छकड़े के नीचे सुला दिया। छकड़े पर दूध और दही की भरी हुई मटकियां रखी हुई थीं। यशोदा कृष्ण को सुलाकर दूसरे

काम-काज में लग गयीं। छकड़े के नीचे पलंग पर सोये हुए कृष्ण के मन में खेल करने की सूझी। उन्होंने एक पैर आगे बढ़ाकर छकड़े के पहिये को जोर से धकेल दिया। उनका ठेलना था कि छकड़ा चल पड़ा। कुछ दूर जाकर उलट गया। छकड़े पर रखी हुई दूध और दही की मटकियां नीचे गिर पड़ीं। यशोदा ने देखा तो उनके प्राण उड़ गये। अरे, यह छकड़ा कैसे उलट गया? कहीं कन्हैया को चोट तो नहीं लगी? उन्हें क्या पता था कि यह लीला उनके उस कन्हैया की ही है, जो महाशक्ति का पुंज होते हुए भी शिशु-रूप में पलंग पर सोया हुआ है।

यशोदा ने दौड़कर श्रीकृष्ण को पलंग से उठाकर हृदय से लगा लिया। गोकुल के गोपों और गोपियों ने इस घटना को भी चमत्कारिक रूप में ग्रहण किया। इस घटना से उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यशोदा का पुत्र अवश्य कोई अवतारी पुरुष है।

कुछ ही दिन बीत पाये थे कि एक और भयानक घटना घटी। एक दिन जब यशोदा जी श्रीकृष्ण को दूध पिला रही थीं, तो उन्हें ऐसा लगा कि उनके प्राणप्यारे श्रीकृष्ण कुछ बोझिल हो गये हैं। उन्होंने दूध पिलाकर कृष्ण को पलंग पर सुला दिया। वे स्वयं अन्य किसी काम में लग गयीं। इसी समय कंस का भेजा हुआ तृणावर्त वहां उपस्थित हुआ। तृणावर्त एक राक्षस था। बड़ा भयानक था। वह अंधड़, बवंडर और तूफान का रूप धारण करने में बड़ा दक्ष था।

तृणावर्त ने जब श्रीकृष्ण को अकेला पलंग पर सोता हुआ देखा, तो वह मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ। श्रीकृष्ण को मारने का इससे बढ़कर अच्छा अवसर दूसरा नहीं हो सकता। उसने शीघ्र ही एक भयानक बवंडर का रूप धारण कर लिया। सारा गोकुल उस बवंडर से ढक गया। गोप और गोपियां व्याकुल हो उठीं। तृणावर्त रूपी बवंडर श्रीकृष्ण के पास पहुंचकर उन्हें आकाश में उड़ा ले गया। उसने सोचा था, वह श्रीकृष्ण को आकाश से धरती पर गिराकर सहज में ही मृत्यु की गोद में सुला देगा। उसे क्या पता था कि श्रीकृष्ण मृत्यु के भी मृत्यु और काल के भी काल हैं! उन्हें कोई नहीं मार सकता, कोई नहीं मार सकता। वे अजेय हैं, अविजित हैं।

तृणावर्त जब श्रीकृष्ण को आकाश में उड़ा ले गया, तो वे विशद रूप धारण करके उससे युद्ध करने लगे। उन्होंने उससे युद्ध करते हुए उसे नीचे गिरा दिया। वह नीचे गिरते ही निष्प्राण हो गया। श्रीकृष्ण पुनः शिशु-रूप में उसकी छाती पर खेलने लगे।

उधर तृणावर्त जब श्रीकृष्ण को आकाश में उड़ा ले गया, तो यशोदा जी

श्रीकृष्ण को न देखकर व्याकुल हो उठीं; चीख-चीख कर रोने लगीं। कुछ ही देर में सारे गोकुल में खबर फैल गयी। गोप और गोपियां श्रीकृष्ण को न देखकर रोने लगीं। किन्तु इसी समय कुछ गोप श्रीकृष्ण को गोद में लेकर आते हुए दिखायी पड़े। उन्होंने यशोदा के पास पहुंचकर, उन्हें श्रीकृष्ण को सौंपते हुए कहा— यशोदा जी, आपका कन्हैया बड़ा अद्‌भुत है। यह तो एक मरे हुए भयानक राक्षस की छाती पर बैठकर खेल रहा था। लगता है अभी-अभी जो बवंडर आया था, वह कोई राक्षस था। वह कन्हैया को मार डालने के लिए आकाश में उड़ा ले गया था, किन्तु कन्हैया ने उसी का काम तमाम कर दिया।

कृष्ण को पाकर यशोदा जी निहाल हो उठीं। गोप और गोपियां भी प्रसन्नता से नाचने लगीं। नन्द बाबा ने प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी, वस्त्र दिये और भोजन दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् एक दिन नन्द जी के घर पर गर्गाचार्य जी का आगमन हुआ। नन्द बाबा ने उनका स्वागत किया, सम्मान किया और बैठने के लिए सुन्दर आसन प्रदान किया। नन्द बाबा ने गर्गाचार्य जी से निवेदन किया— महाराज! आप त्रिकालज्ञ हैं। कृपया, मेरे पुत्रों का जातक संस्कार कर दीजिये, नाम रख दीजिये और उनके भविष्य के सम्बन्ध में भी आवश्यक बातें बता दीजिये।

गर्गाचार्य जी ने उत्तर दिया— नन्दराय जी, मैं यदुवंशियों का पुरोहित हूं। यदि मैं आपके पुत्रों का जातक संस्कार कराता हूं, तो कंस के सैनिकों के मन में सन्देह उत्पन्न होगा। वे इस समय देवकी के आठवें पुत्र का पता लगाने के लिए पागल हो रहे हैं। मेरे संस्कार कराने पर वे यह सोचे बिना नहीं रहेंगे कि अवश्य नन्दराय के पुत्र यदुवंशी हैं। उस समय आपके पुत्रों का उनके द्वारा अपकार हो सकता है। अत: मैं जातक संस्कार तो न कराऊंगा, किन्तु नामकरण किये देता हूं। आपका बड़ा पुत्र गौर वर्ण का है, बल का पुंज है। अत: उसका नाम बलराम होगा। कनिष्ठ पुत्र श्याम वर्ण का है। वह बार-बार श्याम वर्ण में ही जन्म धारण करता है। अत: उसका नाम कृष्ण होगा। नन्दराय जी, आपके दोनों पुत्रों के भविष्य के सम्बन्ध में क्या कहना है! वे सारे जगत के भविष्य के निर्माता होंगे। आपके भाग्य की जितनी भी अधिक सराहना की जाये, कम ही होगी। बलराम और श्रीकृष्ण ने आपके घर में जन्म लेकर आपको धन्य बना दिया है, युग-युगों तक के लिए धन्य बना दिया है।

सचमुच, बलराम और श्रीकृष्ण के कारण नन्द-यशोदा का जीवन धन्य बन गया, युग-युगों तक के लिए धन्य बन गया।

बाल-लीला

(श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएं अत्यधिक आनन्ददायिनी हैं।)

नन्द और यशोदा दोनों बड़े भाग्यशाली थे, जिनकी गोद में बैठकर श्रीकृष्ण अपनी बाल-लीलाएं करते थे। उनके भाग्य की ठीक-ठीक प्रशंसा शारदा भी नहीं कर सकती। धर्मग्रंथों से पता चलता है कि नन्द अपने पूर्वजन्म में एक वसु थे। यशोदा धरा थीं, नन्द की पत्नी थीं। दोनों ने तप के द्वारा ब्रह्मा जी को प्रसन्न करके भगवान की भक्ति और प्रेम का वरदान प्राप्त किया था। उसी वरदान के प्रतिफल-स्वरूप नन्द ने गोकुल में जन्म धारण किया था और यशोदा उनकी पत्नी हुई थीं। उसी वरदान के फलस्वरूप नन्द और यशोदा को श्रीकृष्ण को पुत्र के रूप में प्राप्त करने का अमर सुख प्राप्त हुआ था।

कृष्ण धीरे-धीरे बड़े हुए। जब वे बड़े हुए तो गोप-बालकों के साथ इधर-उधर खेलने लगे, बाल-लीलाएं करने लगे। कृष्ण प्रायः अपने संगी-साथियों को लेकर गोपियों के घर में घुस जाते थे। स्वयं तो दूध, दही और मक्खन खाते ही थे, अपने साथियों को भी खिलाया करते थे।

श्रीकृष्ण छींके पर रखी हुई मक्खन की मटकी से बड़ी चतुराई से मक्खन निकाल कर खा डालते थे। वे किसी नुकीली चीज से मटकी की पेंदी में छेद कर दिया करते थे। जब मक्खन गिरने लगता था, तो श्रीकृष्ण अपने गोप-बालकों के साथ गिरते हुए मक्खन को मुख में ले लिया करते थे। कभी-कभी वे दूध, दही और मक्खन की मटकियों को फोड़ भी दिया करते थे।

प्रायः प्रतिदिन गोपियां यशोदा के पास अपनी-अपनी शिकायतें लेकर जाया करती थीं। कोई गोपी कहती थी— यशोदा मैया, तुम्हारा कन्हैया बड़ा शरारती हो गया है। उसने मेरी दही की मटकी फोड़ दी। कोई गोपी कहती थी— यशोदा मैया, तुम्हारा कृष्ण दूध पी गया है। कोई गोपी कहती थी— यशोदा मैया, तुम्हारे कृष्ण ने मेरा सारा मक्खन खा लिया।

शिकायत के समय कृष्ण मौजूद रहते थे। वे गोपियों की शिकायतों को

सुनकर मुसकराते हुए कहते थे— मैया, तुम इन गोपियों की बातों पर विश्वास न करो। मैं सवेरा होते ही गायों को चराने के लिए वन में चला जाता हूं और सन्ध्या होने पर लौटता हूं। तुम्हीं सोचो, मैं इनका दूध, दही और मक्खन कब खाऊंगा? श्रीकृष्ण की मुसकराहट को देखकर यशोदा समझ जाती थीं कि कृष्ण बड़ा नटखट हो गया है। वह गोपियों को चिढ़ाने के लिए अवश्य उनका दूध, दही और मक्खन खा जाता होगा।

गोपियां श्रीकृष्ण को पकड़ने का बड़ा प्रयन्त करती थीं, किंतु वे उन्हें पकड़ नहीं पाती थीं। बालक श्रीकृष्ण उनके हर एक दांव को काट दिया करते थे। पर एक दिन बाल श्रीकृष्ण एक चतुर गोपी की पकड़ में आ गये। वे रंगे-हाथ पकड़ लिये गये। उनके हाथों में तो मक्खन लगा ही था, मुख में भी मक्खन लगा हुआ था।

गोपी बालकृष्ण का हाथ पकड़े हुए उन्हें यशोदा जी के पास ले गयीं। उसने उन्हें यशोदा जी के सामने खड़ा करके कहा— यशोदा मैया, अब तो आपको विश्वास हो जायेगा कि आपका कान्हा हमारे मक्खन को चुराकर खा जाया करता है। देखिये, उसके हाथों और मुख पर मक्खन लगा हुआ है। मैंने उसे मक्खन चुराकर खाते हुए पकड़ा है।

बात सच थी। मक्खन बालकृष्ण के हाथों और मुख पर लगा हुआ था। यशोदा जी बालकृष्ण की ओर देखती हुई बोलीं— क्यों रे लाला, गोपी क्या कह रही है? क्या तू सचमुच मक्खन चुराकर खा गया?

बालकृष्ण ने रोनी सूरत बनाकर उत्तर दिया— मैया, सभी ग्वाल बालक मेरे पीछे पड़े रहते हैं, मुझे चिढ़ाते रहते हैं। उन्होंने मुझे पकड़ कर जबरदस्ती मेरे हाथों और मुख पर मक्खन लगा दिया। तेरी सौगन्ध मैया, मैंने मक्खन चुराकर नहीं खाया है।

बालकृष्ण की रोनी सूरत को देखकर यशोदा जी तो हँसी ही, गोपी भी हँस पड़ी। अद्‌भुत थी वह रोनी सूरत! मनुष्य की तो बात ही क्या, देवता भी उस रोनी सूरत पर मोहित हो सकता था।

जब गोपियों की शिकायतें अधिक बढ़ गयीं, तो एक दिन यशोदा जी ने बालकृष्ण को डोरी से बांधने का निश्चय किया। वे एक डोरी लेकर उसे बालकृष्ण की कमर से बांधने लगीं, किन्तु वह डोरी दो अंगुल छोटी पड़ गयी। यशोदा जी जिस किसी ओर से भी डोरी को बांधने का प्रयत्न करती थीं, डोरी दो अंगुल छोटी पड़ जाती थी। यशोदा जी बांधते-बांधते थक गयीं, किन्तु बालकृष्ण

बंध नहीं सके। आखिर, मां की परेशानी को देख कर वह अपनेआप ही बंध गये।

यशोदा जी के द्वार पर यमलार्जुन के दो वृक्ष थे। दोनों वृक्ष आपस में सटे हुए थे, बीच में बहुत कम जगह थी। सटे हुए होने के कारण लोग उन्हें यमलार्जुन कहते थे।

वास्तव में वे दोनों वृक्ष वृक्ष नहीं थे, कुबेर के पुत्र थे। एक का नाम नलकूबर था और दूसरे का नाम मणिग्रीव। दोनों शराब पीकर उन्मत्त होकर नाच रहे थे। संयोग की बात, नारद जी जा पहुंचे। उन दोनों ने शराब के नशे में नारद जी का अपमान कर दिया। नारद जी ने उन्हें श्राप दे दिया कि वे अर्जुन के वृक्ष बन जायेंगे और भगवान कृष्ण के द्वारा उनका उद्धार होगा।

एक दिन यशोदा जी ने बालकृष्ण को एक ऊखल से कस कर बांध दिया। वे उन्हें बांध कर घर के बाहर चली गयीं। ऊखल में बंधे हुए बालकृष्ण ऊखल को घसीटते हुए अर्जुन के वृक्षों के पास गये। वे ऊखल सहित दोनों वृक्षों के बीच से निकल कर दूसरी ओर चले गये। फलतः दोनों वृक्ष गिर पड़े, देवलोक को चले गये।

एक दिन गोप बालकों ने यशोदा जी के पास जाकर उनसे कहा—यशोदा मैया, तुम्हारे कृष्ण ने मिट्टी खायी हैं। यशोदा जी ने बालकृष्ण को जा पकड़ा। वे उनका हाथ पकड़ कर उनसे पूछने लगीं—क्यों रे लाला, क्या तुमने मिट्टी खायी है?

बालकृष्ण ने उत्तर दिया—नहीं मैया, मैंने मिट्टी नहीं खायी है। ये ग्वाल-बाल झूठ बोल रहे हैं।

यशोदा जी बोलीं—तू बड़ा नटखट हो गया है। इस तरह मैं नहीं मानूंगी, अपना मुख खोलकर मुझे दिखाओ।

यशोदा जी के आग्रह पर बालकृष्ण ने अपना मुख खोल दिया। आश्चर्य, महान आश्चर्य! यशोदा जी को बालकृष्ण के मुख में आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और ग्रह-उपग्रह आदि सभी दिखायी पड़े। उन्हें बालकृष्ण के मुख में लोक-लोकों का दर्शन हुआ। उन्होंने स्वयं अपने को भी बालकृष्ण के मुख में देखा।

यशोदा जी विस्मय की लहरों में डूब गयीं, मन-ही-मन सोचने लगीं, उनका पुत्र कोई चमत्कारिक योगी है, सिद्ध महात्मा है। मां की आकुलता को देखकर बालकृष्ण ने अपनी योगमाया का उन पर प्रभाव डाला। यशोदा जी सब-कुछ भूल गयीं, बिलकुल भूल गयीं।

गोकुल में कंस के द्वारा भेजे गये राक्षसों का उत्पात बढ़ता ही जा रहा था।

आये-दिन कोई-न-कोई घटना घटती ही जा रही थी। अतः बड़े-बूढ़े गोपों ने नन्द बाबा को सलाह दी— हमें गोकुल छोड़कर वृन्दावन चले जाना चाहिए। गोकुल की अपेक्षा हम वृन्दावन में अधिक सुरक्षित रहेंगे।

नन्दराय को गोपों की सलाह समयानुकूल लगी। फलतः गोकुल के सभी गोप अपनी-अपनी गायों और बछड़ों को लेकर वृन्दावन चले गये।

वृन्दावन में

(वृन्दावन धरती पर स्वर्ग के समान है।)

वृन्दावन में चारों ओर प्रकृति का वैभव बिखरा हुआ था। तरह-तरह के फलों और फूलों के वृक्ष थे। स्थान-स्थान पर सुन्दर कुंज थे। भांति-भांति के पक्षी अपने मधुर कंठस्वरों से वातावरण को गुंजित करते रहते थे। एक ओर गोवर्धन पर्वत था और दूसरी ओर यमुना कल-कल स्वरों में बहती रहती थी। बलराम और कृष्ण को बहुत ही सुन्दर लगा, बहुत ही आकर्षक लगा।

श्रीकृष्ण प्रतिदिन प्रात:काल ग्वाल-बालों के साथ गायों को लेकर वन में चले जाते थे। दोपहर का भोजन भी अपने साथ ले जाते थे। पूरे दिन वन में ही रहते थे, गायों को चराते थे और आपस में तरह-तरह के खेल खेला करते थे। संध्या होने पर गायों के साथ पुन: घर लौटते थे। दिन-भर का सन्नाटापन उनके आने पर समाप्त हो जाता था और बस्ती में आनन्द का सागर उमड़ पड़ता था।

दोपहर के पूर्व का समय था। श्रीकृष्ण कदम्ब के वृक्ष के नीचे गवाल-बालों के साथ खेल रहे थे। सामने मैदान में गायों के बछड़े बड़ी तन्मयता के साथ हरी-हरी घास चर रहे थे। चारों ओर सन्नाटा था, स्तब्धता थी।

सहसा श्रीकृष्ण की दृष्टि सामने चरते हुए बछड़ों की ओर गयी। वे एक अद्‌भुत बछड़े को देखकर चौंक उठे। बड़े ध्यान से उसे देखने लगे। यह अद्‌भुत बछड़ा नहीं था, एक दैत्य था। वह बछड़े का रूप धारण करके बछड़ों में जा मिला था। श्रीकृष्ण को हानि पहुंचाने के अवसर की प्रतीक्षा में था। उसने गाय के बछड़े का रूप धारण किया था, इसीलिए लोग उसे वत्सासुर कहते हैं।

श्रीकृष्ण ने वत्सासुर को देखते ही उसे पहचान लिया। जो बिना नेत्रों के ही सम्पूर्ण भूमंडल को देखता है, उससे वत्सासुर अपने को कैसे छिपा सकता था?

श्रीकृष्ण वत्सासुर को पहचानते ही उसकी ओर अकेले ही चल पड़े। उन्होंने उसके पास पहुंचकर उसकी गर्दन पकड़ ली। उन्होंने उसके पेट में इतने जोर से घूंसा मारा कि उसकी जिह्वा निकल आयी। वह अपने असली रूप में प्रकट होकर

धरती पर गिर पड़ा और बेदम हो गया। ग्वालों के बालक उस भयानक राक्षस को देखकर विस्मित हो गये। वे उनकी प्रशंसा करने लगे और 'जय कन्हैया' के नारे लगाने लगे। सन्ध्या समय जब वह लौट कर घर गये, तो उन्होंने पूरी बस्ती में भी इस घटना को फैला दिया। गोपों और गोपियों ने जहां श्रीकृष्ण के शौर्य की प्रशंसा की, वहां उन्होंने वत्सासुर से बच जाने की प्रसन्नता में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् एक और घटना घटी, जो बड़ी भयानक थी। इस दूसरी घटना में कंस के एक दैत्य ने श्रीकृष्ण को मारने के लिए बक का रूप धारण किया था। बक का रूप धारण करने के ही कारण उसे बकासुर कहा जाता है।

दोपहर के पश्चात् का समय था। श्रीकृष्ण दोपहर का भोजन करने के पश्चात् एक वृक्ष की छाया में आराम कर रहे थे। सामने गायें चर रही थीं। कुछ ग्वाल-बाल यमुना में पानी पीने गये थे।

ग्वाल-बाल जब पानी पीने के लिए यमुना के किनारे पहुंचे, तो पानी में बैठे हुए एक भयानक जन्तु को देख कर चीत्कार कर उठे। वह जन्तु था तो बक के आकार का, किन्तु उसका मुख और उसकी चोंच बहुत बड़ी थी। ग्वाल-बालों ने ऐसा बक कभी नहीं देखा था।

ग्वाल-बालों की चीत्कार को सुनकर बालकृष्ण उठ पड़े और उसी ओर दौड़ पड़े, जिस ओर से चीत्कार आ रही थी। बालकृष्ण ने यमुना के किनारे पहुंचकर उस भयानक जन्तु को देखा। वह अपनी लम्बी चोंच और विकराल आंखों को लिये हुए गुड़मुड़ा कर पानी में बैठा था। बड़ा कुटिलता के साथ ग्वालबालों की ओर देख रहा था।

बालकृष्ण उस भयानक जन्तु को देखते ही पहचान गये कि यह बक नहीं, कोई दैत्य है। उनकी रंगों में विद्युत का प्रवाह संचारित हो उठा। वे झपट कर बक के पास जा पहुंचे। उन्होंने उसके पास पहुंचकर उसकी गर्दन और चोंच पकड़ ली। उन्होंने उसकी गर्दन को इतनी जोर से मरोड़ा कि उसकी आंखें निकल आयीं। वह अपने असली रूप में प्रकट होकर धरती पर गिर पड़ा, बेदम हो गया।

बक के रूप में भयानक राक्षस को देखकर ग्वाल बालों को बड़ा आश्चर्य हुआ। सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि उनके साथी कन्हैया ने उसे किस तरह मार डाला। वे अपने कन्हैया को देवता समझने लगे, परमात्मा समझने लगे। उन्होंने संध्या समय बस्ती में जाकर कन्हैया की प्रशंसा करते हुए लोगों को

बताया कि किस प्रकार कन्हैया ने एक भयानक दैत्य को, जो बक का रूप धारण किये हुए था, मार डाला।

वत्सासुर और बकासुर की मत्यु की खबर को सुनकर कंस चिन्तित हो उठा। उसे समझने में देर नहीं लगी कि अवश्य नन्दराय का पुत्र कृष्ण ही देवकी के गर्भ का आठवां बालक है। अत: कंस कृष्ण को हानि पहुंचाने के लिए अपने दैत्यों को वृन्दावन भेजने लगा।

कंस के दैत्यों में अघासुर बड़ा भयानक था। वह वेश बदलने में दक्ष तो था ही, बड़ा शूरवीर और मायावी भी था। कंस ने कृष्ण को हानि पहुंचाने के लिए बकासुर के पश्चात् अघासुर को भेजा।

दोपहर के पहले का समय था। गायें चर रही थीं। ग्वाल-बाल इधर-उधर घूम रहे थे। बालकृष्ण चरती गायों को बड़े ध्यान से देख रहे थे।

बालकृष्ण यह जानकर चकित हो उठे कि उनके ग्वाल-बालों में कोई भी नहीं दिखायी पड़ रहा है। गायें रह-रहकर हुंकार रही हैं। बालकृष्ण विस्मित होकर आगे बढ़े। वे ग्वाल-बालों को पुकारने लगे, उन्हें खोजने लगे।

किन्तु न तो उन्हें उत्तर मिला, न कोई ग्वाल-बालक दिखायी पड़ा। श्रीकृष्ण चिन्तित होकर सोचने लगे, आखिर सब गये तो कहां गये? कोई उत्तर क्यों नहीं दे रहा है?

श्रीकृष्ण कुछ और आगे बढ़े। उन्होंने आगे जाकर जो कुछ देखा, उससे उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। एक बहुत बड़ा भयानक अजगर मार्ग में पड़ा हुआ था, जोर-जोर से सांसें ले रहा था। उसका बहुत बड़ा मुख था, भयानक आंखें थीं। वह कृष्ण को देखते ही और भी जोर-जोर से सांसें लेने लगा।

वह अजगर नहीं अजग्र के रूप में अघासुर था। उसी ने अपनी सांसों के द्वारा ग्वाल-बालों को अपने पेट के भीतर खींच लिया था। उसने सोचा था, वह कृष्ण को भी अपनी सांसों के द्वारा अपने पेट के भीतर खींच लेगा। उसे क्या पता था कि जो कृष्ण सारे ब्रह्मांड को अपनी ओर खींच लेते हैं, उन्हें कौन खींच सकता है?

अजगर के रूप में पड़े हुए अघासुर को देखते ही कृष्ण पहचान गये, यह अजगर नहीं, कोई दैत्य है और इसी ने अपनी सांसों के द्वारा ग्वाल-बालों को अपने पेट में खींच लिया है। श्रीकृष्ण सजग हो गये, सावधान हो गये।

उधर अजगर श्रीकृष्ण को खींचने के लिए जोर-जोर से सांसें ले रहा था। श्रीकृष्ण अपनेआप ही अजगर के मुख के पास जा पहुंचे। उन्होंने दोनों हाथों से

अजगर के मुख को पकड़ कर उसे फाड़ डाला। वे अपनेआप ही उसके बहुत बड़े पेट के भीतर घुस गये। उन्होंने पेट के भीतर घुस कर अपने शरीर का विस्तार किया। इतना विस्तार किया कि अजगर का पेट फट गया। उसके पेट के भीतर से सभी ग्वाल-बाल सकुशल बाहर निकल आये।

ग्वाल-बालों ने सायंकाल बस्ती में आकर अपने माता-पिता को बताया, किस तरह श्रीकृष्ण ने भयानक अजगर से उनकी रक्षा की। नन्द, यशोदा और बस्ती के सभी गोप तथा गोपियां कृष्ण की बलैया लेने लगीं, उनके शौर्य की प्रशंसा करने लगीं। साथ ही ईश्वर को धन्यवाद देने लगीं कि ईश्वर की कृपा से कन्हैया का बाल तक बांका नहीं हुआ।

कृष्ण इसी प्रकार वृन्दावन में गाये चराते, बाल-लीलाएं करते और कंस के द्वारा भेजे हुए राक्षसों को मारकर ग्वाल-बालों की रक्षा किया करते थे।

ब्रह्मा का मतिभ्रम

(कृष्ण की लीला ने दूसरों की तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा जी को भी भ्रम में डाल दिया था।)

बात उन्हीं दिनों की है, जिन दिनों कृष्ण वृन्दावन में गायें चराया करते थे। एक बार ब्रह्मा जी के मन में श्री कृष्ण की परीक्षा लेने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा, जरा पता तो लगाया जाये कि नन्द के पुत्र कृष्ण में कितना कृष्णत्व है!

दोपहर का समय था। कृष्ण दोपहर का भोजन करने के पश्चात् कदम्ब के वृक्ष के नीचे आराम कर रहे थे। गायें और बछड़े भी इधर-उधर बैठे हुए थे। ग्वाल-बाल भी इधर-उधर सोये हुए आराम कर रहे थे। सहसा कृष्ण उठकर बैठ गये। उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि न तो कोई गाय दिखायी पड़ रही है, न बछड़ा दिखायी पड़ रहा है, न ग्वाल-बाल दिखायी पड़ रहे हैं। कृष्ण विस्मय की तरंगों में डूबकर सोचने लगे, सब कहां चले गये, सब कहां छिप गये?

श्रीकृष्ण गायों, बछड़ों और ग्वाल-बालों को खोजने लगे, किन्तु बहुत खोजने पर भी न तो गायें मिलीं, न बछड़े मिले और न ग्वाल-बाल मिले। मिलते भी तो कैसे मिलते? ब्रह्मा जी ने सभी को ले जाकर छिपा दिया था।

कृष्ण ने जब विचार किया, तो उन्हें सब कुछ मालूम हो गया। वे यह जान गये कि ब्रह्मा जी ने उनकी परीक्षा लेने के लिए गायों, बछड़ों और ग्वाल-बालों को छिपा दिया है। बस फिर क्या था, कृष्ण ने अपनी योगमाया की शक्ति से चारों ओर गायें, बछड़े और ग्वाल-बाल पैदा कर दिये। उन्होंने कई कृष्ण भी पैदा कर दिये। ब्रह्मा जी इस लीला को देखकर चक्कर में पड़ गये। उन्होंने गायों, बछड़ों और ग्वाल-बालों को जहां छिपाया था, वहां जाकर देखा, तो वे सब वहां मौजूद थे।

ब्रह्मा जी सोचने लगे, यह सब कैसी अद्‌भुत लीला है? मैंने जिन्हें छिपाया था, वे तो अपनी जगह मौजूद हैं। फिर ये दूसरी गायें, दूसरे बछड़े और ग्वाल-बाल कहां से आ गये? इनमें कौन वास्तविक हैं और कौन बनावटी हैं—कुछ समझ में

नहीं आता।

जब ब्रह्मा जी सोच-सोच कर थक गये, तो उन्होंने प्रकट होकर भगवान श्रीकृष्ण की प्रार्थना की—हे अच्युत, हे अनन्त, हे असीम, हे इन्द्रियातीत, हे भावातीत और हे शब्दातीत, हमें क्षमा कीजिए। हम आपकी शरण में हैं। आपकी लीला ने हमारे मन में अज्ञानता उत्पन्न कर दी थी। हमारी बुद्धि भ्रम में पड़ गयी। हम पर दया करके मेरे भ्रम को दूर कीजिये।

ब्रह्मा जी की प्रार्थना को सुनकर कृष्ण मुसकरा उठे। उन्होंने मुसकराते हुए ब्रह्मा जी की ओर देखकर कहा—विधे, आपने मेरी गायें, मेरे बछड़ों और मेरे ग्वाल-बालों को क्यों छिपा रखा है?

ब्रह्मा जी भगवान श्रीकृष्ण के सामने झुक पड़े। उनके झुकते ही लीला की गायें, लीला के बछड़े और लीला के ग्वाल-बाल तो अदृश्य हो गये, उनके स्थान पर असली गायें, असली बछड़े और असली ग्वाल-बाल प्रकट हो गये। जय कृष्ण, जय कन्हैया के घोष से सारा वातावरण गूंज उठा, रह-रहकर गूंजने लगा।

कालियदमन

(भगवान सबसे बड़े और सबके रक्षक हैं।)

ग्रीष्म के दिन थे, दस बज रहे थे। कृष्ण यमुना के तट पर ग्वाल-बालों के साथ गायें चरा रहे थे। गायें इधर-उधर छिटकी हुई थीं, बड़ी तन्मयता के साथ घास चर रही थीं। ग्वाल-बाल इधर-उधर खेल रहे थे।

धूप बड़ी तेज़ थी, गरमी जोरों से पड़ रही थी। कुछ ग्वाल-बालों और गायों को प्यास लगी। वे यमुना के तट पर जाकर पानी पीने लगे। ज्यों ही जल के घूंट उनके कंठ के भीतर गये, वे मूर्छित होकर गिर पड़े और देखते-ही-देखते निष्प्राण हो गये।

गायों और ग्वाल-बालों को मूर्छित होकर गिरते देखकर श्रीकृष्ण दौड़कर उनके पास जा पहुंचे। उन्होंने देखा, गायों और ग्वाल-बालों के मुख से फेन-सा बाहर निकल रहा था। कृष्ण के देखते-ही-देखते उनकी आंखें उलट गयीं, वे बेदम हो गये। कृष्ण का हृदय दुःख से भर गया। उन्होंने शीघ्र ही अपनी अमृत संजीवनी शक्ति का प्रयोग किया। आश्चर्य, गायें और ग्वाल-बाल पुनः जीवित हो उठे।

यमुना में तट से कुछ दूर एक कुंड-सा बन गया था, जो बड़ा गहरा था। उस कुंड में एक भयानक सर्प निवास करता था, जिसे कालियनाग कहते थे। उसकी कई पत्नियां भी थीं। वह बड़ा विषैला था। उसके विष के कारण कुंड का सारा पानी विषाक्त हो गया था। केवल कुंड का पानी ही नहीं, यमुना का जल भी विषैला हो गया था।

जिस प्रकार चूल्हे पर रखा हुआ पानी आग की गरमी से खौलता है, उसी प्रकार कुंड का पानी भी कालियनाग के विष से खौला करता था और फव्वारे की भांति ऊपर उठा करता था। कितने ही मनुष्य, पशु और पक्षी उस पानी को पीकर अपना दम तोड़ चुके थे। जल की दो बूंदें भी जिसके कंठ के नीचे चली जाती थीं, उसकी आंखें उलट जाती थीं। चारों ओर उस कुंड का आतंक फैला हुआ था। कोई भी मनुष्य डर के कारण उस ओर नहीं जाता था। फिर भी कभी-कभी अनजान में

मनुष्य, पशु या पक्षी उस पानी को पीकर अपना दम तोड़ दिया करते थे।

कृष्ण के कानों में भी कालियनाग के आतंक की कहानी पड़ चुकी थी। वे इस बात को जान चुके थे कि कालियनाग के विष से किस तरह यमुना का पानी विषाक्त हो गया है और किस तरह निरपराध प्राणी उस पानी को पीकर अपना दम तोड़ देते हैं। उस दिन जब उन्होंने अपनी गायों और ग्वाल-बालों को दम तोड़ते हुए अपनी आंखों से देखा, तो वे व्याकुल हो उठे। उन्होंने प्राणियों की रक्षा के लिए कालियनाग को मार डालने का संकल्प किया। कृष्ण का अवतार ही आतंकवाद को मिटाने, अत्याचारियों को मिटाने और दुखी प्राणियों की रक्षा के लिए हुआ था।

यमुना के किनारे कदम्ब का एक वृक्ष था। उसकी डालें यमुना के उस पानी को स्पर्श करती थीं, जिसके नीचे कालियनाग निवास करता था। श्रीकृष्ण मन-ही-मन कुछ सोचकर कदम्ब के वक्ष के ऊपर जा चढ़े और देखते-ही-देखते यमुना में उस जगह कूद पड़े, जहां कालियनाग के विष की गरमी से पानी खौल रहा था।

कृष्ण यमुना में कूदते ही पानी के भीतर समाविष्ट हो गये। वे पानी के भीतर उस जगह जा पहुंचे, जहां कालियनाग निवास करता था। कालियनाग यह देखकर बड़ा विस्मित हो उठा कि एक तेजस्वी बालक उसके विष की परवाह किये बिना उसकी ओर चला आ रहा है। वह क्रुद्ध होकर कृष्ण की ओर झपट पड़ा।

उसने देखते-ही-देखते कृष्ण को अपनी कुंडली की लपेट में लिया। कृष्ण और कालियनाग में संघर्ष होने लगा, यमुना के पानी में भी उथल-पुथल होने लगी।

कृष्ण जब कदम्ब के वृक्ष पर चढ़कर कालियदह में कूद पड़े, तो यमुना के तट पर खड़े ग्वाल-बाल चीख-चीख कर रोने लगे, कन्हैया-कन्हैया की पुकार मचाने लगे। गायें भी हुंकारने लगीं। गायों की आंखों में भी आंसू बहने लगे। ग्वाल-बाल और गायें-बछड़े रोते-रोते मर्छित होकर गिर पड़े। वन के पक्षी भी व्याकुल होकर चहचहाने लगे, अपनी भाषा में कृष्ण-कृष्ण की पुकार करने लगे।

उस दिन सवेरे से ही नन्दराय को अपशकुन हो रहा था। उनकी आंखों के सामने बार-बार अमांगलिक वस्तुएं आ रही थीं। यशोदा के भी दाहिने अंग रह-रहकर फड़क उठते थे। नन्द और यशोदा व्याकुल होकर मन-ही-मन सोच रहे थे, न जाने क्यों आज कृष्ण बलराम को साथ लिये बिना अकेले ही गायें चराने के लिए वन में चले गये! न जाने आज वन में क्या हो रहा है!

नन्द और यशोदा से जब नहीं रहा गया, तो वे गोपों और गोपियों को साथ लेकर यमुना के किनारे उस जगह जा पहुंचे, जहां ग्वाल-बाल और गायें मूर्छित अवस्था में पड़ी हुई थीं। एक अर्धमूर्छित ग्वाल-बाल ने नन्द और यशोदा को

बताया कि किस तरह कन्हैया कांछनी काछकर कदम्ब के वृक्ष पर चढ़े और किस तरह वे कालियदह में कूदकर देखते-ही-देखते अदृश्य हो गये।

उधर यमुना के जल में उथल-पुथल हो ही रही थी। उस उथल-पुथल से साफ-साफ पता चल रहा था कि जल के भीतर कालियनाग और श्रीकृष्ण में संघर्ष हो रहा है। यद्यपि नन्द, यशोदा और गोप तथा गोपियां कृष्ण के चमत्कार को देख चुकी थीं, किन्तु फिर भी वे कृष्ण को एक बालक ही समझती थीं। वे कालियनाग की भयंकरता और कृष्ण की सुकुमारता को सोच-सोचकर रोने लगीं। हा कन्हैया, हा कन्हैया— कहकर सकरुण में विलाप करने लगीं।

नन्दराय को दुःख से अधीर होकर यमुना में कूदकर प्राण तक देने के लिए तैयार हो गये, किन्तु गोपों ने उन्हें पकड़ लिया। यशोदा भी कालियदह में कूदकर प्राण देने के लिए दौड़ीं, किन्तु गोपियों ने उन्हें भी पकड़ लिया। यमुना के किनारे आंसुओं का सागर उमड़ पड़ा। सारा वातावरण सकरुण स्वर से गूंज उठा। हा कृष्ण, हा कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ सुनायी नहीं पड़ता था।

उधर यमुना-जल के भीतर कालियनाग से संघर्ष करते हुए श्रीकृष्ण को भी नन्द, यशोदा और गोपों तथा गोपियों की व्याकुलता का पता चला। वे अब तक कालियनाग के साथ लीला कर रहे थे। किन्तु यशोदा और नन्द की अधीरता ने उन्हें भी अधीर बना दिया। वे शीघ्र ही कालियनाग की कुंडली की लपेट से बाहर निकल कर कालियनाग के हजार फणों पर चढ़ गये और उसके फणों को रह-रहकर इस तरह पैरों से कुचलने लगे, मानो नृत्य कर रहे हों।

कालियनाग के फणों से रक्त बहने लगा। श्रीकृष्ण कालियनाग के फणों को पैरों से कुचलते हुए कुंड में पानी से ऊपर उठे। वे कांछनी काछे हुए थे, घुंघराले उनके बाल थे। उनके दोनों पैर रह-रहकर उठ रहे थे, गिर रहे थे। अद्भुत थी उनकी छवि! मनुष्य की तो बात ही क्या, उनकी उस छवि पर ब्रह्मा और शिव जी भी विमोहित हो उठे थे।

नन्द, यशोदा, गोप और गोपियों ने जब कृष्ण को देखा तो उनके जाते हुए प्राण लौट आये। वे नाचने लगे, गाने लगे और प्यारे कृष्ण के शब्दों से वातावरण को गुंजाने लगे।

कालियनाग को संकट में फंसा हुआ देखकर उसकी पत्नियां कृष्ण के सामने उपस्थित हुईं। वे विनम्र वाणी में बोलीं— प्रभो, हमारे पति का स्वभाव विकारों से भरा हुआ है। यही कारण है कि वे आपके अतुल बल-वैभव को समझ नहीं पाये। हम आपकी शरण में हैं। कृपया हमारे पति की रक्षा कीजिये।

स्वयं कालियनाग भी आर्तवाणी में बोला— हे अशरणशरण, मैं आपकी शरण में हूं। नाग होने के कारण मैं स्वभाव से ही कुटिल हूं। दुर्गुणों से भरा हुआ हूं। मैं अज्ञानी आपके अतुल बल-वैभव को समझ नहीं सका। मुझ पर कृपा कीजिये, मुझे क्षमा का दान दीजिये।

कालियनाग और उसकी पत्नियों की प्रार्थना ने भगवान श्रीकृष्ण के हृदय में दया उत्पन्न कर दी। वे अमृत के समान अपनी कृपा की दृष्टि करते हुए बोले— कालियनाग, अब तुम यहां मत रहो। इस स्थान को छोड़कर समुद्र में चले जाओ।

कालियनाग ने भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन किया। वह कालियदह को छोड़कर अपनी पत्नियों सहित समुद्र में चला गया।

भगवान श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार दावाग्नि और प्रलम्बासुर से भी गायों, गोपों और ग्वाल-बालों की रक्षा की थी। उनके अतुल बल-वैभव को देखकर व्रज के समस्त गोप अब यह समझने लगे थे कि नन्द का पुत्र श्रीकृष्ण साधारण मानव न होकर, नारायण का अवतार हैं। अतः समस्त व्रजवासी उन्हें अपने बीच में पाकर स्वयं को धन्य मानने लगे थे।

वर्षा होती है और कर्मों के फलानुसार ही अकाल भी पड़ता है। जल की वृष्टि होने या न होने से इन्द्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रीकृष्ण अपने कथन को समाप्त करके सोचने लगे। नन्द बाबा उनके कथन को सुनकर बड़े ही आश्चर्य के साथ उनके मुख की ओर देखने लगे। कुछ देर के बाद श्रीकृष्ण ने पुनः सोचते हुए कहा— बाबा, मेरे विचारानुसार आपको इन्द्र की पूजा नहीं करनी चाहिए। यदि आपको पूजा करती ही है, तो गोवर्धन पर्वत की करनी चाहिए; क्योंकि गोवर्धन पर्वत से हमें बहुत-सी उपयोगी वस्तुएं प्राप्त होती हैं।

थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण बस्ती में यह बात जोरों से फैल गयी कि नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण इन्द्र की पूजा के लिए मना कर रहे हैं। उनका कहना है कि इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा करनी चाहिए।

पहले तो गोपों ने कृष्ण की इस बात का विरोध किया, किन्तु जब उन्होंने गोपों को समझाया तो वे मान गये। इसका कारण यह भी था कि वे श्रीकृष्ण के चमत्कार को बार-बार अपनी आंखों से देख चुके थे। फलतः कृष्ण की बात को मान कर गोपों ने यज्ञानुष्ठान और पूजा की सारी सामग्री गोवर्धन पर्वत को भेंट के रूप में अर्पित कर दी।

उधर इन्द्र के कानों में जब यह समाचार पड़ा, तो वह कुपित हो उठा। उसने प्रलयकाल में मेघों को बुलाकर आदेश दिया कि सारे व्रज के ऊपर छा जाओ और इतनी वृष्टि करो कि सम्पूर्ण ब्रज पानी में डूब जाये।

इन्द्र की आज्ञानुसार प्रलयकाल के बादल व्रज की ओर दौड़ पड़े। देखते-ही-देखते सारा व्रज काले-काले बादलों से ढक गया। बिजली चमक-चमक कर कड़कने लगी। तेज हवा चलने लगा। ऐसा लगने लगा कि मानो प्रलयकाल आ गया हो।

सम्पूर्ण व्रज में घबराहट फैल गयी। गोप, गोपियां और ग्वाल-बाल रोने और चीखने लगे, कहने लगे— हाय-हाय, अब हम क्या करें? हमने कन्हैया की बात मान कर इन्द्र की पूजा बन्द कर दी। अब इन्द्र के कोप से हमारी कौन रक्षा करे?

कृष्ण ने व्रजवासियों को समझाते हुए कहा— व्रजवासियो, घबराओ नहीं। अपने-अपने बाल-बच्चों और गोधन को लेकर गोवर्धन चलो। गोवर्धन ही हमारी रक्षा करेंगे। कृष्ण के आदेशानुसार समस्त ब्रजवासी अपने-अपने बालबच्चों और गोधन के साथ गोवर्धन की ओर चल पड़े। श्रीकृष्ण पहले ही गोवर्धन के पास पहुंच गये थे। उन्होंने कांछनी काछ कर गोवर्धन पर्वत को उठा लिया और उसे

गोवर्धनधारण

(जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उठाये रहता है, उसके लिए गोवर्धन को उंगली पर उठा लेना कोई बड़ी बात नहीं थी।)

वर्षा ऋतु के आरंभ के दिन थे। आकाशमंडल में इधर से उधर मेघ दौड़ने लगे थे। मन्द-मन्द ठंडी हवा चलने लगी थी। पृथ्वी श्यामल हो गयी थी। ऐसा लगता था, मानो अब वर्षा होने वाली है।

उन्हीं दिनों एक दिन सवेरे जब श्रीकृष्ण सोकर उठे, तो व्रज में जो-कुछ हो रहा था, उसे देखकर चकित हो उठे। सभी गोप और गोपियां यज्ञानुष्ठान में लगे हुए थे। बड़े उत्साह और उमंग के साथ पूजा की तैयारियां हो रही थी। कृष्ण मन-ही-मन सोचने लगे, अरे यह सब क्या है और क्यों हो रहा है?

बहुत-कुछ सोचने लगे और विचार करने के पश्चात् भी जब श्रीकृष्ण की समझ में कुछ नहीं आया, तो उन्होंने नन्द बाबा के पास जाकर उनसे पूछा— बाबा, आज यह सब क्या हो रहा है? जिसे देखता हूं, वही यज्ञ के आयोजन में संलग्न है, पूजा के प्रबन्ध में जुटा हुआ है। वह कौन देवता है, जिसकी प्रसन्नता के लिए यह सारा आयोजन हो रहा है?

नन्द बाबा ने उत्तर दिया— बेटा, हमे बादलों से जल प्राप्त होता है। जल से ही खेती होती है, जल को ही पीकर हम जीवित रहते हैं। हमारे पशुओं को भी जल से ही जीवन प्राप्त होता है। इन्द्र जल के देवता हैं। उन्हीं की कृपा से हमें प्रतिवर्ष उचित मात्रा में और उचित समय पर जल प्राप्त होता है। अत: हम व्रजवासी प्रतिवर्ष आजकल इन्द्र की पूजा करते हैं। जो आयोजन तुम देख रहे हो, वह इन्द्र की पूजा का ही है।

नन्द बाबा के कथन को सुनकर श्रीकृष्ण विचारों में डूब गये। वे कुछ देर तक मन-ही-मन सोचते रहे, फिर बोले— बाबा, संसार में मनुष्य को जो कुछ मिलता है, वह अपने कर्मों के ही कारण मिलता है। कर्मों के ही कारण मनुष्य को दु:ख मिलता है, कर्मों के हां कारण सुख भी मिलता है। कर्मों के फलानुसार ही

वर्षा होती है और कर्मों के फलानुसार ही अकाल भी पड़ता है। जल की वृष्टि होने या न होने से इन्द्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रीकृष्ण अपने कथन को समाप्त करके सोचने लगे। नन्द बाबा उनके कथन को सुनकर बड़े ही आश्चर्य के साथ उनके मुख की ओर देखने लगे। कुछ देर के बाद श्रीकृष्ण ने पुनः सोचते हुए कहा—बाबा, मेरे विचारानुसार आपको इन्द्र की पूजा नहीं करनी चाहिए। यदि आपको पूजा करती ही है, तो गोवर्धन पर्वत की करनी चाहिए; क्योंकि गोवर्धन पर्वत से हमें बहुत-सी उपयोगी वस्तुएं प्राप्त होती हैं।

थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण बस्ती में यह बात जोरों से फैल गयी कि नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण इन्द्र की पूजा के लिए मना कर रहे हैं। उनका कहना है कि इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा करनी चाहिए।

पहले तो गोपों ने कृष्ण की इस बात का विरोध किया, किन्तु जब उन्होंने गोपों को समझाया तो वे मान गये। इसका कारण यह भी था कि वे श्रीकृष्ण के चमत्कार को बार-बार अपनी आंखों से देख चुके थे। फलतः कृष्ण की बात को मान कर गोपों ने यज्ञानुष्ठान और पूजा की सारी सामग्री गोवर्धन पर्वत को भेंट के रूप में अर्पित कर दी।

उधर इन्द्र के कानों में जब यह समाचार पड़ा, तो वह कुपित हो उठा। उसने प्रलयकाल में मेघों को बुलाकर आदेश दिया कि सारे व्रज के ऊपर छा जाओ और इतनी वृष्टि करो कि सम्पूर्ण ब्रज पानी में डूब जाये।

इन्द्र की आज्ञानुसार प्रलयकाल के बादल व्रज की ओर दौड़ पड़े। देखते-ही-देखते सारा व्रज काले-काले बादलों से ढक गया। बिजली चमक-चमक कर कड़कने लगी। तेज हवा चलने लगा। ऐसा लगने लगा कि मानो प्रलयकाल आ गया हो।

सम्पूर्ण व्रज में घबराहट फैल गयी। गोप, गोपियां और ग्वाल-बाल रोने और चीखने लगे, कहने लगे—हाय-हाय, अब हम क्या करें? हमने कन्हैया की बात मान कर इन्द्र की पूजा बन्द कर दी। अब इन्द्र के कोप से हमारी कौन रक्षा करे?

कृष्ण ने व्रजवासियों को समझाते हुए कहा—व्रजवासियो, घबराओ नहीं। अपने-अपने बाल-बच्चों और गोधन को लेकर गोवर्धन चलो। गोवर्धन ही हमारी रक्षा करेंगे। कृष्ण के आदेशानुसार समस्त ब्रजवासी अपने-अपने बालबच्चों और गोधन के साथ गोवर्धन की ओर चल पड़े। श्रीकृष्ण पहले ही गोवर्धन के पास पहुंच गये थे। उन्होंने कांछनी काछ कर गोवर्धन पर्वत को उठा लिया और उसे

अपनी एक उंगली पर धारण कर लिया। उन्होंने व्रजवासियों को पुकारते हुए कहा— व्रजवासियो, अपने-अपने बालबच्चों और गोधन को लेकर गोवर्धन पर्वत के नीचे आ जाओ।

नन्द बाबा, यशोदा और ब्रजवासियों ने जब श्रीकृष्ण को अपनी एक उंगली पर गोवर्धन पर्वत को धारण किये हुए देखा, तो उन्हें महान आश्चर्य हुआ। वे सभी लोग श्रीकृष्ण को जय बोलते हुए अपने-अपने गोधन के साथ गोवर्धन पर्वत के नीचे चले गये। इन्द्र के प्रलयकारी बादल लगातार सात दिनों तक गरज-गरज कर भयंकर वृष्टि करते रहे, तीव्र हवाएं चलती रहीं और वज्रपात भी होता रहा; किन्तु किसी भी व्रजवासी का बाल तक बांका नहीं हुआ। भगवान श्रीकृष्ण सात दिनों और सात रातों तक गोवर्धन पर्वत को अपनी उंगली पर धारण किये रहे।

इन्द्र सिर पटक-पटक कर थक गया, पर भगवान श्रीकृष्ण गोवर्धन पर्वत को उठाये रहे, उठाये रहे। आखिर, इन्द्र का घमंड चूर्ण हो गया। वह भगवान श्रीकृष्ण के सामने उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर बोला— प्रभो, आपकी माया ने मेरी बुद्धि को ग्रसित कर लिया था। अत: मैं आपको समझ करके भी नहीं समझ सका। मैं आपकी शरण में हूं, मुझे क्षमा कर दीजिये।

इन्द्र भगवान श्रीकृष्ण की प्रार्थना करके चला गया। आकाश स्वच्छ हो गया। जलवृष्टि बन्द हो गयी। भगवान श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को पुन: उसके स्थान पर रख दिया।

यह घटना जब कंस के कानों में पड़ी, तो वह भयभीत हो उठा। अब इसकी लेशमात्र भी शंका न रही कि नन्द का पुत्र ही उसका काल है। वह जहां भयभीत हुआ, कृष्ण को मारने के लिए उसने अपने प्रयत्न और अधिक तेज कर दिये। पर उसके तेज प्रयत्नों के कारण उसकी मृत्यु निकट आ गयी, अधिक निकट आ गयी।

अक्रूर के द्वारा निमंत्रण

(जब बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, तो जीव अधिक तीव्र गति से ईश्वरता के विरुद्ध कार्य करने लगता है।)

जिन दिनों भगवान श्रीकृष्ण वृन्दावन में निवास करते थे, उन्हीं दिनों एक दिन देवर्षि नारद कंस की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने कंस से कहा— मथुरेश, नन्द का पुत्र श्रीकृष्ण ही देवकी के गर्भ का आठवां पुत्र है। आकाशवाणी में आपके जिस काल की घोषणा हुई थी, वह काल नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण हैं। वसुदेव और नन्द में मित्रता है। देवकी के गर्भ से जब आठवां पुत्र उत्पन्न हुआ, तो वसुदेव ने अपने उस पुत्र को नन्द के घर पहुंचा दिया था और नन्द की पत्नी यशोदा के गर्भ से उत्पन्न लड़की को लाकर अपनी पत्नी देवकी को दे दिया था। आपने उसी लड़की के पैर को पकड़ कर उसे शिला पर पटकने का प्रयत्न किया था। किन्तु, वह आप के हाथ से छूट कर आकाश में चली गयी थी और उसने अष्ट-भुजा का रूप धारण करके घोषणा की थी— कंस, तुम्हारा काल उत्पन्न हो चुका है!

मथुरेश, आजकल कृष्ण वृन्दावन में निवास करते हैं। मैंने आपको सावधान कर दिया है, जो कुछ करना हो, शीघ्र ही कर डालिये।

यद्यपि कंस इस बात को मन-ही-मन समझ गया था कि नन्द राय का पुत्र ही देवकी के गर्भ का आठवां पुत्र है, किन्तु जब उसने यही बात देवर्षि नारद के मुख से सुनी, तो उसके मन का रहा-सहा संदेह भी दूर हो गया। अब उसे निश्चित रूप से ज्ञात हो गया कि नन्द का पुत्र श्रीकृष्ण ही उसका काल है।

कंस कुपित हो उठा। उसने वसुदेव और देवकी को बन्दी बना कर पुनः कारागार में डाल दिया। उसके पिता उग्रसेन ने जब वसुदेव और देवकी के प्रति सहानुभूति प्रकट की तो कंस ने अपने पिता को भी बन्दी बना कर कारागृह में डाल दिया।

एक ओर कंस ने जहां यह किया, वहां दूसरी ओर उसने केशी को बुलाकर उसे आज्ञा दी— केशी, तुम शीघ्र ही वृन्दावन जाओ और जिस प्रकार हो, कृष्ण को

मृत्यु के मुख में पहुंचाने का प्रयत्न करो।

किन्तु केशी का भी वही हाल हुआ, जो कंस के दूसरे दैत्यों का हुआ था। भगवान श्रीकृष्ण ने दूसरे दैत्यों की भांति ही केशी को भी मृत्यु के मुख में पहुंचा दिया।

केशी की मृत्यु के पश्चात् कंस ने अपने मंत्रियों से सलाह करके श्रीकृष्ण भगवान को मारने के लिए एक बहुत बड़े षड्यंत्र की रचना की। उसने मथुरा में मल्ल-उत्सव का आयोजन किया। उसने मल्लोत्सव में सम्मिलित होने के लिए जहां और लोगों को निमंत्रित किया, वहां उसने नन्द और उनके दोनों पुत्रों को भी निमंत्रित किया। उसका विचार था कि जब उसके निमंत्रण पर कृष्ण और बलराम मथुरा आयेंगे और मल्लोत्सव में सम्मिलित होंगे, तो वह बड़ी सुगमता के साथ अपनी अभिलाषा को पूर्ण कर सकेगा। उसे क्या पता था कि वह कृष्ण और बलराम को नहीं, अपने काल को बुला रहा है।

कंस ने जहां मल्लोत्सव का आयोजन किया, वहां उसने श्री कृष्ण को मार डालने का प्रबन्ध भी किया। उसने अपने चाणूर और मुष्टिक आदि पहलवानों से कहा– श्रीकृष्ण और बलराम जब कुश्ती लड़ने लगें, तो ऐसे दाव का प्रयोग करना चाहिए जिससे उनकी मृत्यु हो जाये। उसने कुबलयापीड़ हाथी के पीलवान से कहा–जब श्रीकृष्ण और बलराम रंगशाला में प्रवेश करने लगें, तो उन पर कुबलयापीड़ को मद पिलाकर छोड़ देना चाहिए। कुबलयापीड़ अपनेआप ही उन्हें मृत्यु के मुख में पहुंचा देगा।

मल्लोत्सव की आयोजना करने के पश्चात् कंस सोचने लगा, नंद के पास निमंत्रण भेजा जाये, तो किसके द्वारा भेजा जाये? वह किसी एक ऐसे व्यक्ति की खोज में था, जो नन्द का विश्वासी हो, क्योंकि उसके मन में डर था कि, यदि नन्द के मन में संदेह पैदा हो गया, तो वे कृष्ण और बलराम को मथुरा नहीं आने देंगे।

आखिर, कंस को एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, जो नन्द का अधिक विश्वासी था। वह व्यक्ति थे अक्रूर जी। अक्रूर जी अपनी सज्जनता के लिए मथुरा में प्रसिद्ध थे। वे साधु प्रकृति के व्यक्ति थे, यदुवंशी थे और भगवान के बड़े भक्त थे।

कंस ने अक्रूर जी को बुला कर उनसे कहा– अक्रूर जी, मथुरा में मल्लोत्सव हो रहा है। मैंने सबको निमंत्रित किया है। आप नन्द जी के पास जाकर उन्हें मेरा निमन्त्रण दें और नन्द तथा उनके दोनों पुत्रों को मथुरा ले आयें।

कंस के कथन को सुनकर अक्रूर जी यह पूरी तरह समझ गये कि कंस नन्द

के दोनों पुत्रों को मथुरा क्यों बुला रहा है, किन्तु फिर भी उनके मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा, चलो इसी बहाने भगवान श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का दर्शन करने का सुयोग तो प्राप्त हो जायेगा।

अक्रूर जी ने निमंत्रण-पत्र लेकर नन्द जी के पास जाना स्वीकार कर लिया। वे कंस की आज्ञा से रथ पर बैठकर वृन्दावन की ओर चल पड़े। मार्ग में वे यह सोच-सोचकर अधिक प्रसन्न हो रहे थे कि जिन कृष्ण ने पूतना, बकासुर, अघासुर और केशी इत्यादि राक्षसों को मृत्यु के मुख में पहुंचा दिया, तथा जो कृष्ण सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को अपनी उंगली पर उठाये रहे, आज उनके दर्शन का मुझे सुयोग मिलेगा। मनुष्य को सब कुछ तो सरलता से मिल जाता है, पर भगवान का दर्शन तो उसी समय प्राप्त होता है जब महान पुण्यों का उदय होता है।

कंस का वध

(कंस के वध के लिए ही भगवान कृष्ण का अवतार हुआ था।)

अक्रूर जी ने जब वृन्दावन में प्रवेश किया, तो सर्वप्रथम उन्हें श्रीकृष्ण और बलराम के दर्शन हुए। उनका जीवन धन्य हो उठा। वे यह सोचकर हर्षित हो उठे कि अंतर्यामी भगवान ने उन्हें दर्शन देकर उनके मानव-जीवन को सार्थक बना दिया।

अक्रूर जी ने जब नन्द से मिलकर उन्हें कंस का निमंत्रण दिया, तो विद्युत् की भांति यह समाचार सारी बस्ती में फैल गया। बस्ती के समस्त गोप बड़ी उत्सुकतापूर्वक नन्द के द्वार पर एकत्र हुए। उन्होंने अक्रूर जी के मुख से मल्लोत्सव और नन्द तथा गोपों को कंस के द्वारा मथुरा बुलाये जाने के समाचार को सुना। नन्द जी ने उस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। उन्होंने अक्रूर जी से कहा— अक्रूर जी, महाराज कंस हमारे राजा है। हम अवश्य उनके मल्लोत्सव में सम्मिलित होंगे। आप रात-भर विश्राम करें। हम सभी लोग कल प्रातःकाल आपके साथ मथुरा चलेंगे।

श्रीकृष्ण और बलराम को जब यह समाचार मिला, तो वे भी बड़े प्रसन्न हुए। वे भी मथुरा में होने वाले मल्लोत्सव में भाग लेने के लिए तैयार हो गये। किन्तु गोपियों को जब यह समाचार मिला, तो उनके मुख उसी प्रकार मुरझा गये जिस प्रकार तुहिनपात से कमल की कलियां मुरझा जाती हैं।

दूसरे दिन का प्रभातकाल था। सूर्योदय हो चुका था। आकाश में पक्षी चहचा रहे थे, गायें रह-रहकर हुंकार रही थीं। नन्द जो तरह-तरह की भेंट की वस्तुएं छकड़ों पर लादकर अपने गोपों के साथ मथुरा की ओर चल पड़े। कृष्ण और बलराम अक्रूर जी के रथ पर सवार थे।

अक्रूर जी अपने रथ पर कृष्ण और बलराम को लेकर जब मथुरा की ओर चले, तो गोपियां उनके रथ के मार्ग में लेट गयीं। वे अपने कृष्ण और बलराम को मथुरा जाने देना नहीं चाहती थीं। श्रीकृष्ण ने रथ को रोक कर अक्रूर जी से कहा— अक्रूर जी, आप रथ से उतर कर गोपियों को समझायें। उनसे कहें कि मैं उनसे अलग नहीं हो रहा हूं। मैं उनके साथ ही हूं।

अक्रूर जी रथ से उतरकर गोपियों को समझाने लगे। फलतः नन्द जी अपने गोपों के साथ मथुरा में पहले पहुंचे। कृष्ण और बलराम उनके पहुंचने के घंटों पश्चात् पहुंचे।

श्रीकृष्ण जब मथुरा की सीमा के भीतर पहुंचे, तो वे रथ को रोककर नीचे उतर गये। उन्होंने अक्रूर जी से कहा कि आप रथ को लेकर चलें। मैं पैदल नगर की शोभा को देखता हुआ कंस की रंगशाला में प्रवेश करूंगा।

अक्रूर जी ने जब भगवान श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि उनकी हार्दिक इच्छा है कि वे उनके घर को पवित्र करें, तो उन्होंने अक्रूर जी को आश्वासन देते हुए कहा—अक्रूर जी, कंस को मारने के पश्चात् मैं अवश्य आपके घर जाऊंगा और स्वजनों तथा परिजनों से मिलकर हर्षित होऊंगा।

फलतः अक्रूर जी रथ को लेकर नगर के भीतर चले गये। उन्होंने कंस के पास जाकर उसे श्रीकृष्ण और बलराम के आने की सूचना दी। वह उस घड़ी की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा, जब वह अपनी रंगशाला में श्रीकृष्ण और बलराम को मारकर अपनी इच्छा पूर्ण करेगा। उसे क्या पता था कि उसका काल कृष्ण के रूप में मथुरा की सीमा में प्रवेश कर चुका है और उसकी रंगशाला की ओर बढ़ रहा है।

उधर श्रीकृष्ण और बलराम ने पैदल ही नगर के भीतर प्रवेश किया। सारे नगर में उनके पहुंचने की खबर फैल गयी। नगर की स्त्रियां उन्हें देखने के लिए अपने-अपने घर के झरोखों और खिड़कियों पर जा बैठीं। श्रीकृष्ण और बलराम जिस ओर से निकलते थे, स्त्रियां उन्हें देखकर आनंदित तो होती ही थीं, उन पर पुष्पों की वृष्टि भी करती थीं। पुरुष और बालक उनकी जय बोलते थे, हर्षध्वनि करते थे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलराम नगर की शोभा को देखते हुए, स्त्री-पुरुषों को हर्षित करते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे। कुछ दूर जाने पर उन्हें एक स्त्री मार्ग में दिखायी पड़ी, जिसकी पीठ में कूबड़ निकला हुआ था। कूबड़ निकलने के कारण लोग उसे कुब्जा कहते थे। वह अपने हाथों में घिसे हुए चन्दन का पात्र लिये हुए थी।

कुब्जा को देखते ही भगवान श्रीकृष्ण के मन में उस पर अनुग्रह करने का विचार प्रकट हो उठा। उन्होंने कुब्जा से पूछा—तुम कौन हो और कहां जा रही हो?

कुब्जा ने श्रीकृष्ण की ओर देखते हुए उत्तर दिया—मेरा नाम कुब्जा है। मैं प्रतिदिन कंस को चन्दन पहुंचाया करती हूं। यह चन्दन उन्हीं के लिए ले जा रही

हूं। वे मेरे हाथ में चन्दन को अत्यधिक पसन्द करते हैं।

श्रीकृष्ण ने सोचते हुए कहा— यदि मैं तुमसे चन्दन मांगूं, तो क्या तुम अपना चन्दन मुझे दे सकती हो?

कुब्जा श्रीकृष्ण की ओर देखने लगी। उनकी मनोहर छवि को देखकर वह मुग्ध हो गयी। वह मुग्ध नेत्रों से उनकी ओर देखती हुई बोली—क्यों नहीं दे सकती? इतने दिनों से चन्दन घिस कर कंस को पहुंचा रही हूं, किन्तु चन्दन घिसने का वास्तविक लाभ तो आज ही प्राप्त होगा।

कुब्जा ने चन्दन का पात्र श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा दिया। श्रीकृष्ण कुब्जा की ओर देखते हुए बोले—कुब्जा, आज जब तुम चन्दन लेकर कंस के पास नहीं जाओगी, तो क्या कंस तुम पर अप्रसन्न नहीं होंगे? क्या तुम्हें कंस की अप्रसन्नता का भय नहीं है?

कब्जा ने कुछ उत्तर न देकर सारा का सारा चन्दन श्रीकृष्ण और बलराम को लगा दिया। श्रीकृष्ण उसके प्रेम और उसकी निर्भयता पर प्रसन्न हो गये। उन्होंने बड़े प्रेम से कुब्जा का हाथ पकड़ कर, उसकी ठुड्डी को ऊपर उठा दिया। आश्चर्य, कुब्जा का कुबड़ापन दूर हो गया। वह एक परम रूपवती युवती के रूप में परिवर्तित हो गयी। वह श्रीकृष्ण की ओर प्रेम-भरी दृष्टि से देखती हुई बोली— आपने जब मुझे सुन्दर रूप प्रदान किया है, तो मेरी एक बात और मानिये, मेरे साथ मेरे घर चलने की कृपा कीजिये।

श्रीकृष्ण ने रहस्यमयी मुसकराहट के साथ उत्तर दिया— कुब्जे, धैर्य रखो। मैं तुम्हें वचन देता हूं, कंस को मारने के पश्चात् तुम्हारे घर अवश्य आऊंगा।

श्रीकृष्ण कुब्जा पर अनुग्रह करने के पश्चात् आगे बढ़े। वे नगर की शोभा को देखते हुए कंस की व्यायामशाला में पहुंचे। व्यायामशाला में एक बहुत बड़ा धनुष रखा हुआ था। उस धनुष को परशुराम जी ने कंस को प्रदान किया था। वह धनुष इतना बड़ा और भारी था कि कोई भी प्रत्यंचा को खींचकर उस पर बाण नहीं चढ़ा सकता था।

भगवान श्रीकृष्ण ने देखते-ही-देखते उस धनुष को उठा लिया और उसकी प्रत्यंचा को इतनी जोर से खींचा कि धनुष टूट कर दो टुकड़ों में बदल गया। श्रीकृष्ण के इस कौतुक को देखकर धनुष के रक्षक उन्हें मारने के लिए उनकी ओर झपटे; किन्तु वे श्रीकृष्ण के पास पहुंचें, उसके पूर्व ही उन्होंने उन्हें मारकर गिरा दिया।

कंस को जब श्रीकृष्ण के द्वारा धनुष के तोड़ जाने और उसके रक्षकों के

मारे जाने की खबर मिली तो वह बड़ा चिन्तित हुआ, क्योंकि परशुराम जी ने उससे कहा था कि इस धनुष को तोड़ने वाला ही तुम्हारा काल होगा।

श्रीकृष्ण और बलराम व्यायामशाला से निकल कर आगे बढ़े। वे धीरे-धीरे चलकर उस रंगशाला के द्वार पर पहुंचे, जहां मल्लोत्सव हो रहा था। रंगशाला के द्वार पर कुबलयापीड़ खड़ा हुआ था। श्रीकृष्ण ने कुबलयापीड़ के पीलवान से कहा— तुम कुबलयापीड़ को मार्ग के बीच से हटा लो। हमको रंगशाला के भीतर जाना है।

किन्तु, हटाने को कौन कहे, पीलवान ने कुबलयापीड़ को प्रेरणा दी। वह चिंघाड़ता हुआ श्रीकृष्ण और बलराम पर झपट पड़ा। श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही उसकी सूंड़ को पकड़ लिया। उन्होंने उसके मस्तक पर इतने जोरों के साथ मुष्टिका का प्रहार किया कि वह धरती पर गिर कर बेदम हो गया। श्रीकृष्ण ने उसके दोनों दांत उखाड़ लिये। दोनों भाइयों ने एक-एक दांत हाथ में लेकर रंगशाला के भीतर प्रवेश किया।

रंगशाला को चारों ओर से अच्छी तरह सजाया गया था। नगर के प्रतिष्ठित नर-नारी अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। कंस सिंहासन पर था। सबकी दृष्टि श्रीकृष्ण-बलराम पर थी। नन्द और उनके गोप भी रंगशाला में विराजमान थे।

कंस के प्रसिद्ध मल्ल चाणूर ने श्रीकृष्ण की ओर देखते हुए कहा— हम बड़ी उत्सुकता के साथ तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। तुम दोनों भाइयों ने वन में गायें चराते हुए बड़े-बड़े खेल खेले हैं, आश्चर्यजनक दावों का अभ्यास किया है। हमारे साथ कुश्ती लड़कर, अपने कुछ दावँ महाराज कंस को भी दिखाओ वे तुम्हारे दांवों को देखने के लिए बहुत उत्सुक हैं।

श्रीकृष्ण भगवान ने चाणूर की ओर देखते हुए उत्तर दिया— अरे भाई, भला हम गायों के चरवाहे दावँ क्या जानें? हम तो बालक हैं और तुम हो पूरे पहलवान। भला मैं तुम्हारे साथ कुश्ती कैसे लड़ सकता हूं?

चाणूर कृष्ण की ओर देखता हुआ बोला— तुम अपने को बालक कह रहे हो? जिसने पूतना, बकासुर, अघासुर और प्रलम्भासुर का वध किया, वह बालक कैसे हो सकता है? देखो, बनो नहीं। मेरे साथ कुश्ती लड़कर महाराज कंस को अपने दावँ दिखाओ।

चाणूर ने अपने कथन को समाप्त करते हुए श्री कृष्ण को कुश्ती लड़ने के लिए ललकारा। उसकी ललकार को सुनकर वे कांछनी काछ कर लड़ने के लिए तैयार हो गये। कुछ ही क्षणों में श्रीकृष्ण चाणूर से और बलराम मुष्टिक से भिड़

गये।

कंस के हृष्ट-पुष्ट पहलवान के साथ कृष्ण और बलराम को कुश्ती लड़ते देखकर दर्शकों में हलचल मच गयी। यह अन्याय है, अधर्म है—कहते हुए दर्शक उठकर खड़े हो गये। सबके मुख से एक ही बात निकलने लगी। छोटी वय के कृष्ण और बलराम को चाणूर और मुष्टिक से लड़ाना अन्याय है। ऐसे अन्याय और अधर्म को हम नहीं देख सकते।

बहुत-से दर्शक अपने-अपने स्थान को छोड़कर रंगशाला से बाहर चले गये। उन दर्शकों में नन्द जी और उनके साथी गोप भी थे। उधर अखाड़े में कृष्ण और बलराम चाणूर और मुष्टिक को पकड़ कर उन्हें धरती पर गिराने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने देखते-ही-देखते दोनों को आकाश दिखा दिया। दोनों धरती पर गिर कर बेदम हो गये।

चाणूर और मुष्टिक के पश्चात् तोशल और तोरण आदि पहलवान अखाड़े में उतरे, किन्तु श्रीकृष्ण और बलराम ने उन सबको भी धरती पर सुला दिया।

कंस अपने पहलवानों की मृत्यु को देखकर क्षुब्ध हो उठा। उसने अपने सैनिकों को बुला कर आदेश दिया—नन्द के इन दोनों पुत्रों को बंदी बनाकर मार डालो।

कंस के आदेश को सुन कर सैनिक कृष्ण और बलराम की ओर झपट पड़े। सैनिक कृष्ण और बलराम के पास पहुंचें, उसके पूर्व ही भगवान श्रीकृष्ण उछल कर, मंच पर कंस के पास जा पहुंचे। कंस ने भी तलवार निकाल ली। वह तलवार का वार करे, उससे पूर्व ही भगवान श्रीकृष्ण ने उसे मंच से नीचे गिरा दिया। वे कंस को नीचे गिराकर उसकी छाती पर सवार हो गये। उन्होंने उसका गला इतने जोरों से दबाया कि उसकी आंखें निकल आयीं। वह मृत्यु की गोद में सोकर भगवान के लोक में चला गया। जो लोग वैर और शत्रु भाव से भी बार-बार भगवान को याद किया करते हैं, उन्हें भी भगवान वही गति प्रदान करते हैं जो बड़े-बड़े योगियों को देते हैं।

कंस का वध होने पर सारी रंगशाला भगवान श्रीकृष्ण के जयनाद से गूंद उठी, राक्षसों की सेना में भगदड़ मच गयी। कंस का समर्थन करने वाले उसके मंत्री और सेनानी या तो मथुरा को छोड़कर भाग गये, या छिप कर बैठ गये। साधुओं, सज्जनों, और महात्माओं के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ उठा। मथुरा की धरती पर चारों ओर उल्लास का वसंत छा गया। किसी अत्याचारी और पातकी का जब विनाश होता है, तो धरती इसी प्रकार आनन्द से उद्वेलित हो उठती है।

कंस का वध करने के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण अपने वचन के अनुसार कुब्जा के घर गये। उन्होंने कुब्जा के प्रेम और उसकी भक्ति पर प्रसन्न होकर उसे अमरता प्रदान की। कुब्जा युग-युगों के लिए धन्य हो गयी, वन्दनीया बन गयी।

भगवान श्रीकृष्ण ने कुब्जा को अमर पद देने के पश्चात् अपनी माता, अपने पिता और अपने नाना उग्रसेन को बन्दीगृह से मुक्त किया। उन्होंने उग्रसेन को राजसिंहासन पर बिठा कर उन्हें मथुरा का अधिपति बनाया।

भगवान श्रीकृष्ण नन्द और गोपों को मथुरा से विदा करके स्वयं मथुरा में ही रह गये। नन्द जी आंखों में आंसू लिये हुए व्रज लौट गये। व्रज की गोपियों को जब यह मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण मथुरा में ही रह गये हैं, तो वे रुदन करने लगीं, विलाप करने लगीं। सारे व्रज में उदासी-सी छा गयी। गोपियों का तो कहना ही क्या था, गायों तक ने घास खाना छोड़ दिया। श्रीकृष्ण को जब पता चला, तो उन्होंने गोपियों को समझाने के लिए ऊधो जी को उनके पास भेजा। ऊधोजी ने व्रज में जाकर गोपियों को ब्रह्मवाद का उपदेश दिया। किन्तु ऊधो जी का ब्रह्मवाद गोपियों के कंठ के नीचे नहीं उतरा। ऊधो जी हार मानकर मथुरा लौट गये। वे गोपियों के प्रेम को देखकर स्वयं भी प्रेमासक्त और सगुणवादी बन गये।

जब चारों ओर शान्ति स्थापित हो गयी, तो कृष्ण और बलराम विद्याध्ययन के लिए उज्जैन के पास सांदीपन गुरु के आश्रम में गये। दोनों भाइयों ने गुरु की सेवा करते हुए, बड़ी संलग्नता के साथ विद्या का अध्ययन किया। सांदीपन गुरु के आश्रम में ही श्रीकृष्ण की सुदामा से मित्रता स्थापित हुई थी।

विद्याध्ययन जब पूर्ण हो गया और श्रीकृष्ण तथा बलराम गुरु के आश्रम से विदा होने लगे, तो श्रीकृष्ण ने गुरु से निवेदन किया— गुरुवर, आप मुझसे गुरु-दक्षिणा के रूप में क्या चाहते हैं?

उन दिनों सांदीपन बहुत दुखी थे। उनका एक ही पुत्र था। वह प्रभास क्षेत्र में समुद्र में स्नान करने गया था, किन्तु घर लौट कर नहीं आया था। उसके वियोग में सांदीपन पत्नी सहित समाकुल थे। उन्होंने अपनी पत्नी से सलाह करके श्रीकृष्ण से कहा— मैं गुरु-दक्षिणा के रूप में अपना पुत्र चाहता हूं। यदि तुम मेरे पुत्र को मुझे दे सको तो मैं तुम्हारा उपकार मानूंगा।

भगवान श्रीकृष्ण अकेले ही प्रभास क्षेत्र गये और सांदीपन के पुत्र को खोजकर उनके पास ले आये। सांदीपन का पुत्र समुद्र में स्नान करते हुए डूब गया था। श्रीकृष्ण यमलोक में जाकर यमराज से सांदीपन के पुत्र को मांग लाये थे।

सांदीपन अपने पुत्र को पाकर अतीव प्रसन्न हुए। उन्होंने कृष्ण को आशीर्वाद

देते हुए कहा था—तुमने जिस प्रकार मेरे प्राणों में हर्ष उत्पन्न किया, उसी प्रकार तुम्हें सदा हर्ष मिलता रहेगा। तुम्हारा यश और तुम्हारा नाम सर्वदा लोक-लोकों में फैलेगा।

विद्याध्ययन के पश्चात् श्रीकृष्ण और बलराम मथुरा लौट गये। वे मथुरा में रहकर मथुरावासियों को ही नहीं, सम्पूर्ण व्रजवासियों को भी सुख और आनन्द देने लगे। उन्हें ऐसा लगने लगा, मानो श्रीकृष्ण और बलराम के कारण सम्पूर्ण व्रज स्वर्ग के रूप में बदल गया हो।

जरासंध का आक्रमण

(मनुष्य की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान को भी समय के चक्र में पड़ना पड़ता है।)

कंस की दो पत्नियां थीं। एक का नाम अस्ति और दूसरी का नाम प्राप्ति था। दोनों मगध के नृपति जरासंध की पुत्रियां थीं।

श्रीकृष्ण के द्वारा कंस का वध होने के पश्चात् उसकी दोनों पत्नियां मथुरा छोड़ कर मगध चली गयीं, क्योंकि मथुरा में उन्हें आश्रय देने वाला अब एक भी मनुष्य नहीं रह गया था।

कंस की दोनों पत्नियां मगध जाकर अपने पिता जरासंध की सेवा में उपस्थित हुईं। उन्होंने भरी हुई आंखों से जरासंघ को बताया कि किस प्रकार वसुदेव के पुत्रों ने सुप्रसिद्ध पहलवानों को तो मार ही डाला, कंस का भी वध कर दिया। दोनों ने जरासंध के समक्ष अपने पति के वियोग में आंसू गिराये, विलाप किया।

जरासंध बड़ा शूरवीर था। बड़ा प्रतापी था। तत्कालीन नरेशों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके पास बहुत बड़ी सेना भी थी।

जरासंध अपनी पुत्रियों की वैधव्यावस्था को देखकर क्षुब्ध हो उठा। वह यदुवंशियों को धूल में मिलाने के लिए बहुत बड़ी सेना लेकर मथुरा की ओर चल पड़ा। उसने मथुरा पहुंचकर, चारों ओर से नगर को घेर लिया।

जरासंध ने उग्रसेन के पास समाचार भेजा— मथुरा मुझे सौंप दो। यदि नहीं सौंपोगे, तो मैं सम्पूर्ण मथुरा का नाम-निशान तक मिटा दूंगा। यद्यपि उग्रसेन के पास बहुत थोड़ी सेना थी, किन्तु फिर भी श्रीकृष्ण और बलराम ने जरासंध से युद्ध करने का निश्चय किया। उन्होंने उत्तर के रूप में जरासंघ के पास संदेश भेजा—जो वीर होते हैं, वे प्रलाप नहीं करते। कुछ करके दिखाते हैं। यदि तुम्हारे में साहस हो, तो तुम हमसे मथुरा छीन लो। हम तुम्हें अपनी प्यारी मथुरा को क्यों देने लगे?

श्रीकृष्ण के उत्तर को पाकर जरासंध ने प्रबल वेग से मथुरा पर आक्रमण

कर दिया। उसकी बहुत बड़ी सेना का सामना करने के लिए श्रीकृष्ण और बलराम भी रथ पर सवार होकर निकल पड़े। उनके पास बहुत थोड़ी-सी सेना थी। अस्त्र-शस्त्र भी बहुत कम थे। फिर भी उन्होंने जरासंध की सेना को तो धूल में मिला ही दिया, उसे बन्दी भी बना लिया।

श्रीकृष्ण और बलराम ने जरासंध को बंदी के रूप में उग्रसेन के सामने उपस्थित किया। उग्रसेन ने उसके साथ सज्जनता का व्यवहार किया और उसे मुक्त कर दिया। सज्जन मनुष्य शत्रुओं के साथ भी अच्छा व्यवहार करते हैं।

यद्यपि उग्रसेन ने जरासंध को मुक्त कर दिया, किन्तु उसके हृदय में यदुवंशियों के प्रति वैर-भाव सदा बना रहा। उसने मुक्त होने के पश्चात् क्रम-क्रम से 17 बार मथुरा पर आक्रमण किया, किन्तु प्रत्येक बार उसे पराजित होना पड़ा। वह अपनी पराजय से बड़ा दुःखी हुआ। उसने राजसिंहासन छोड़कर तप करने का विचार किया। किन्तु उसके मित्रों और हितैषियों ने उसे तप करने से रोक दिया। उन्होंने यह कहकर उसे धैर्य बंधाया कि आज की हार कल की विजय के रूप में बदल जायेगी।

जरासंध मथुरा पर आक्रमण करने के लिए पुनः तैयारियां करने लगा। नयी-नयी शक्तियों का संग्रह करने लगा। वह मथुरा को तो नष्ट कर देना चाहता ही था, श्रीकृष्ण और बलराम को भी बन्दी बनाना चाहता था। किन्तु क्या उसका स्वप्न पूरा हुआ? नहीं, कभी नहीं।

कालयवन और जरासंध

(संकट जब आते हैं, तो एक साथ ही आते हैं।)

यद्यपि जरासंध 17 बार पराजित हुआ, किन्तु फिर भी वह मथुरा को नष्ट करने के उपाय करता रहा। उन दिनों उत्तर-पश्चिम में भारत की सीमा के पार एक यवन राजा राज्य करता था। उसका नाम कालयवन था। वह बड़ा विधर्मी, क्रूर और अत्याचारी था। उसके पास बहुत बड़ी सेना भी थी। जरासंध की उससे मित्रता थी।

जरासंध ने कालयवन के पास दूत भेज कर उसे मथुरा पर आक्रमण करने की प्रेरणा दी। उसने उससे कहा– यदि वह मथुरा को नष्ट करने में उसका साथ दे, तो वह मथुरा पर उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लेगा।

जरांसध और कालयवन– दोनों ने साथ ही मथुरा पर आक्रमण करने की योजना बनायी। दोनों ने आक्रमण करने का एक तिथि भी निश्चित की। कालयवन तो निश्चित तिथि पर बहुत बड़ी सेना लेकर मथुरा पहुंच गया, किन्तु किसी कारणवश जरासंध नहीं पहुंच पाया था। वह पहुंचा अवश्य, पर देर से पहुंचा।

कालयवन ने मथुरा पहुंच कर डेरा डाल दिया। उसके साथ बहुत बड़ी सेना थी। वह ऊंटों, खच्चरों और घोड़ों पर कई महीनों के लिए खाने-पीने का सामान लाद कर लाया था। वह मथुरा को बिलकुल उजाड़ देना चाहता था।

यदुवंशियों ने जरासंध की तरह कालयवन से भी युद्ध करने का निश्चय किया। किन्तु श्रीकृष्ण भगवान ने उस निश्चय का विरोध किया। उन्होंने कहा– जरासंध भी कालयवन की सहायता करने के लिए आयेगा। कालयवन और जरासंध दोनों की सेनाओं का सामना करना हमारे लिए कठिन हो जायेगा। अतः हमें इस समय युद्ध नहीं करना चाहिए। हम मथुरा को खाली कर देना चाहिए। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि मथुरा उजड़ने से बच जायेगी।

यद्यपि बलराम और उग्रसेन आदि भगवान श्रीकृष्ण के विचारों से सहमत नहीं थे, फिर भी वही हुआ जो श्रीकृष्ण चाहते थे। मथुरा खाली कर दी गयी श्रीकृष्ण और बलराम को छोड़कर मथुरा के समस्त नर-नारी द्वारिका चले गये

मथुरा में सन्नाटा छा गया।

मथुरा खाली होने पर श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा– भैया, जब तक मैं लौट न आऊं, तुम मथुरा में ही रहो। मैं अकेले ही कालयवन से निपट लूंगा।

प्रभात का समय था। सूर्योदय हो चुका था। भगवान श्रीकृष्ण गले में एक पुष्पमाला डाल कर कालयवन के शिविर के पास जा पहुंचे। उनके हाथों में अस्त्र-शस्त्र आदि कुछ भी नहीं था। कालयवन श्रीकृष्ण को देखकर विस्मित हो उठा। उनके शरीर को अद्‌भुत शोभा को देखकर उसने मन-ही-मन सोचा, हो न हो यही कृष्ण है। यह श्याम रंग का तो है ही, अद्‌भुत कान्तिधारी भी है, माला भी धारण किये हुए हैं, किन्तु बिना अस्त्र-शस्त्र का है। अतः मुझे भी बिना अस्त्र-शस्त्र के ही इसके साथ युद्ध करना चाहिए।

कालयवन ने अकेले ही श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे पूछा– तुम कौन हो? क्या तुम कृष्ण हो?

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया– हां, मैं ही कृष्ण हूं। कहो, क्या कहना चाहते हो?

श्रीकृष्ण के कथन को सुनते ही कालयवन क्रोधोन्मत्त होकर उनकी ओर झपट पड़ा। भगवान श्रीकृष्ण कालयवन का मुकाबला न करके अपनी योजना के अनुसार भाग चले। आगे-आगे श्रीकृष्ण और उनके पीछे-पीछे दौड़ता हुए एक पहाड़ की गुफा के भीतर जा घुसे। गुफा के भीतर पहले से ही एक व्यक्ति चादर ओढ़कर निद्रित अवस्था में पड़ा हुआ था।

कालयवन भी कृष्ण के पीछे-पीछे उस गुफा के भीतर जा पहुंचा। कृष्ण गुफा के भीतर जाकर छिप गये थे। अतः कालयवन उन्हें तो नहीं देख सका, उसने उस मनुष्य को ही देखा, जो निद्रित अवस्था में पड़ा हुआ था। कालयवन ने उसे देखकर सोचा, यही कृष्ण है। धोखा देने के लिए सिर पर चादर ओढ़कर सो गया है।

अतः कालयवन ने सोये हुए व्यक्ति पर पदाधात किया– दुष्ट कहीं का! अब यहां आकर सिर पर चादर डालकर सो गया है। मैं तुझे छोड़ूंगा नहीं।

पदाघात से सोये हुए व्यक्ति ने मुख से चादर उठा कर कालयवन की ओर देखा। आश्चर्य, उनके दृष्टिपात से ही कालयवन जलकर भस्म हो गया।

वह सोये हुए व्यक्ति एक महान तपस्वी थे। उनका नाम मुचुकुन्द था। वे मान्धाता के पुत्र थे। उन्होंने देवताओं और दैत्यों के युद्ध में देवताओं की बड़ी सहायता की थी। देवताओं ने उनकी सेवाओं पर प्रसन्न होकर उनकी इच्छानुसार

उन्हें सदा सोते रहने का वरदान दिया था और यह भी कहा था, जो उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें जगायेगा, वह केवल उनके दृष्टिपात से ही जलकर भस्म हो जायेगा।

भगवान श्रीकृष्ण इस बात को जानते थे। वे इसीलिए कालयवन को उस गुफा के भीतर ले गये थे।

कालयवन जब जल कर भस्म हो गया, तो भगवान श्रीकृष्ण मुचुकुन्द के समक्ष प्रकट हुए। मुचुकुन्द भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन करके धन्य हो उठे। वे उनकी आज्ञा से तप करने के लिए वन में चले गये और तप करते हुए अमर पद के अधिकारी हुए।

कालयवन के जल जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण लौट कर मथुरा गये। कालयवन की सेना में जब उसकी मृत्यु का समाचार फैला, तो भगदड़ मच गयी। बलराम ने कालयवन की भागती हुई सेना को लूटने का विचार किया। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने कहा—जरासंध अपनी सेना लेकर मथुरा पहुंच गया है, अत: हमें शीघ्र ही यहां से भाग जाना चाहिए।

श्रीकृष्ण और बलराम दोनों मथुरा से भाग खड़े हुए। जरासंध ने अपनी सेना सहित उनका पीछा किया, किन्तु अधिक प्रयत्न करने पर भी वह उन्हें बन्दी नहीं बना सका। श्रीकृष्ण और बलराम दोनों सकुशल द्वारिका जा पहुंचे।

'जरासंघ को निराश होकर मगध लौट जाना पड़ा। भगवान श्रीकृष्ण ने द्वारिका पहुंचकर नगर का निर्माण कराया। केवल नगर का ही निर्माण नहीं कराया, द्वारिका का राज्य भी स्थापित किया। वे द्वारिका के राजसिंहासन पर बैठकर द्वारिकाधीश के नाम से प्रसिद्ध हुए, सारे विश्व में उनकी ख्याति हुई।

रुक्मिणी-हरण

(मनुष्य के रूप में जन्म लेने पर भगवान मनुष्यों की भांति लीला करते हैं।)

द्वारिका में रहते हुए भगवान श्रीकृष्ण और बलराम का नाम चारों ओर फैल गया। बड़े-बड़े नृपति और सत्ताधिकारी भी उनके सामने मस्तक झुकाने लगे, उनके गुणों का गान करने लगे।

बलराम के बल-वैभव और उनकी ख्याति पर मुग्ध होकर रैवत नामक राजा ने अपनी पुत्री रेवती का विवाह उनके साथ कर दिया। बलराम अवस्था में श्रीकृष्ण से बड़े थे। अतः नियमानुसार सर्वप्रथम उन्हीं का विवाह हुआ।

उन दिनों विदर्भ देश में भीष्मक नामक एक परम तेजस्वी और सद्गुणी नृपति राज्य करते थे। कुंडिनपुर उसकी राजधानी थी। उनके पांच पुत्र और एक पुत्री थी। सबसे बड़े पुत्र का नाम रुक्मी और पुत्री का नाम रुक्मिणी था। रुक्मिणी परम रूपवती और गुणवती थी। उसके शरीर में लक्ष्मी के शरीर के समान ही लक्षण थे। अतः लोग उसे लक्ष्मीस्वरूपा कहा करते थे।

रुक्मिणी जब विवाह के योग्य हो गयी, तो भीष्मक को उसके विवाह की चिन्ता हुई। रुक्मिणी के पास जो लोग आते-जाते थे, वे श्रीकृष्ण की प्रशंसा किया करते थे। वे रुक्मिणी से कहा करते थे— श्रीकृष्ण अलौकिक पुरुष हैं। इस समय सम्पूर्ण विश्व में उनके सदृश अन्य कोई पुरुष नहीं है।

भगवान श्रीकृष्ण के गुणों और उनकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर रुक्मिणी ने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी को भी पति के रूप में वरण नहीं करेगी। उधर भगवान श्रीकृष्ण को भी इस बात का पता हो चुका था कि विदर्भ-नरेश भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी परम रूपवती तो है ही, परम सुलक्षणा भी है।

भीष्मक का बड़ा पुत्र रुक्मी भगवान श्रीकृष्ण से शत्रुता रखता था। वह बहन रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहता था, क्योंकि शिशुपाल भी श्रीकृष्ण से द्वेष रखता था। भीष्मक ने अपने बड़े पुत्र की इच्छानुसार रुक्मिणी का

विवाह शिशुपाल के साथ ही करने का निश्चय किया। उसने शिशुपाल के पास संदेश भेजकर विवाह की तिथि भी निश्चित कर दी।

रुक्मिणी को जब इस बात का पता लगा, तो वह बड़ी दुखी हुई। उसने अपने निश्चय को प्रकट करने के लिए एक ब्राह्मण को द्वारिका श्रीकृष्ण के पास भेजा। उसने श्रीकृष्ण के पास जो संदेश भेजा था, वह इस प्रकार था—हे नन्द-नन्दन! मैंने आपको ही पति के रूप में वरण किया है। मैं आपको छोड़ कर किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकता। मेरे पिता मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरा विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहते हैं। विवाह की तिथि भी निश्चित हो गयी है। मेरे कुल की रीति है कि विवाह के पूर्व होने वाली वधू को नगर के बाहर गिरिजा का दर्शन करने के लिए जाना पड़ता है। मैं भी विवाह के वस्त्रों में सज-धज कर दर्शन करने के लिए गिरिजा के मंदिर में जाऊंगी। मैं चाहती हूं, आप गिरिजा-मंदिर में पहुंच कर मुझे पत्नी के रूप में स्वीकार करें। यदि आप नहीं पहुंचेंगे तो मैं अपने प्राणों का परित्याग कर दूंगी।

रुक्मिणी के संदेश को पाकर भगवान श्रीकृष्ण रथ पर सवार होकर शीघ्र ही कुंडिनपुर की ओर चल दिये। उन्होंने रुक्मिणी के दूत ब्राह्मण को भी रथ पर बिठा लिया था।

श्रीकृष्ण के चले जाने पर पूरी घटना बलराम जी के कानों में पड़ी। वे यह सोचकर चिन्तित हो उठे कि श्रीकृष्ण अकेले ही कुंडिनपुर गये हैं। अतः वे भी यादवों की सेना के साथ कुंडिनपुर के लिए प्रस्थित हो गये।

उधर भीष्मक ने पहले ही शिशुपाल के पास सन्देश भेज दिया था। फलतः शिशुपाल निश्चित तिथि पर बहुत बड़ी बारात लेकर कुंडिनपुर जा पहुंचा। बारात क्या थी, पूरी सेना थी। शिशुपाल की उस बारात में जरासंध, पौंड्रक, शाल्व और वक्रनेत्र आदि राजा भी अपनी-अपनी सेना के साथ थे। ये सभी राजा श्रीकृष्ण से शत्रुता रखते थे।

विवाह का दिन था। सारा नगर बन्दनवारों और तोरणों से सज्जित था। मंगलवाद्य बज रहे थे। मंगलगीत भी गाये जा रहे थे। पूरे नगर में बड़ी चहल-पहल थी। नगर-निवासियों को जब इस बात का पता चला कि श्रीकृष्ण और बलराम भी नगर में आये हुए हैं, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। वे मन-ही-मन सोचने लगे, कितना अच्छा होता यदि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण के साथ होता, क्योंकि वे ही उसके लिए योग्य हैं।

संध्या के पश्चात् का समय था। रुक्मिणी विवाह के वस्त्रों में सज-धज कर

गिरजा के मंदिर की ओर चल पड़ी। उसके साथ उसकी सहेलियां और बहुत-से अंगरक्षक भी थे। वह अत्यधिक उदास और चिन्तित थी, क्योंकि जिस ब्राह्मण को उसने श्रीकृष्ण के पास भेजा था वह अभी लौट कर उसके पास नहीं पहुंचा था।

रुक्मिणी ने गिरजा की पूजा करते हुए उनसे प्रार्थना की— मां, तुम मां हो। मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो। मैं श्रीकृष्ण को छोड़कर किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह नहीं करना चाहती।

रुक्मिणी जब मंदिर से बाहर निकली तो उसे वह ब्राह्मण दिखायी पड़ा। यद्यपि ब्राह्मण ने रुक्मिणी से कुछ कहा नहीं, किन्तु ब्राह्मण को देखकर रुक्मिणी बहुत प्रसन्न हुई। उसे यह समझने में संशय नहीं रहा कि श्रीकृष्ण भगवान ने उसके समर्पण को स्वीकार कर लिया है।

रुक्मिणी अपने रथ पर बैठना ही चाहती थी कि श्रीकृष्ण भगवान ने विद्युत तरंग की तरह पहुंचकर उसका हाथ पकड़ लिया। उसे खींचकर अपने रथ पर बिठा लिया। वे रुक्मिणी को रथ पर बिठाकर तीव्र गति से द्वारिका की ओर चल पड़े।

क्षण मात्र में ही सम्पूर्ण कुंडिनपुर में खबर फैल गयी कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी का हरण करके उसे द्वारिकापुरी ले गये।

शिशुपाल के कानों में जब यह खबर पड़ी तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने अपने मित्र राजाओं और उनकी सेनाओं के साथ श्रीकृष्ण का पीछा किया, किन्तु बीच में ही बलराम और यदुवंशियों ने शिशुपाल आदि को रोक लिया। भयंकर युद्ध हुआ। बलराम और यदुवंशियों ने बड़ी वीरता के साथ लड़कर शिशुपाल आदि की सेना को नष्ट कर दिया। फलतः शिशुपाल आदि निराश होकर कुंडिनपुर से चले गये।

रुक्मी यह सब सुन कर क्रोध से कांप उठा। उसने बहुत बड़ी सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा किया। उसने प्रतिज्ञा की कि या तो वह श्रीकृष्ण को बन्दी बना कर लौटेगा, या फिर कुंडिनपुर में अपना मुख नहीं दिखायेगा।

रुक्मी और श्रीकृष्ण का घनघोर युद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने उसे युद्ध में हरा कर अपने रथ में बांध दिया, किन्तु बलराम ने छुड़ा दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा— रुक्मी अब अपना सम्बन्धी हो गया है। किसी सम्बन्धी को इस तरह का दंड देना उचित नहीं है।

रुक्मी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पुनः लौटकर कुंडिनपुर नहीं गया। वह एक नया नगर बसा कर वहीं रहने लगा। कहते हैं, रुक्मी के वंशज आज भी उस नगर में रहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को द्वारिका ले जाकर उनके साथ विधिवत् विवाह किया। प्रद्युम्न उन्हीं के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, जो कामदेव के अवतार थे।

श्रीकृष्ण की पटरानियों में रुक्मिणी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनके प्रेम और उनकी भक्ति पर भगवान श्रीकृष्ण मुग्ध थे। उनके प्रेम और उनकी भक्ति की कई कथा मिलती हैं, जो बड़ी प्रेरक हैं।

स्यमंतक मणि

(मानव-रूप में जन्म लेने पर कभी-कभी भगवान को भी कलंक लग जाते हैं।)

सत्राजित् ने सूर्यदेव की उपासना करके उन्हें अत्यधिक प्रसन्न किया था। उन्होंने अपनी प्रसन्नता के फलस्वरूप उसे एक मणि प्रदान की थी। उस मणि का नाम स्यमंतक मणि था। वह सूर्य के समान प्रभावमयी थी। जहां रहती थी, वहां तीनों तापों में से किसी भी ताप का प्रभाव नहीं पड़ता था।

एक बार सत्राजित् स्यमंतक मणि को गले में पहनकर, भगवान श्रीकृष्ण की राजसभा में गया। स्यमंतक मणि के कारण सत्राजित् दूसरे सूर्य की भांति ज्ञात हो रहा था। राजसभा के सभी सदस्य उठकर खड़े हो गये और एक स्वर में कह उठे—यह दूसरा सूर्य कहां से आ गया?

श्रीकृष्ण भगवान ने राजसभा के सदस्यों को बताया—यह दूसरा सूर्य नहीं, सत्राजित् है। स्यमंतक मणि पहनने के कारण यह दूसरे सूर्य की तरह प्रतीत हो रहा है।

भगवान श्रीकृष्ण ने सत्राजित् से कहा—यह मणि तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम इसे महाराज उग्रसेन को दे दो।

किन्तु सत्राजित् ने मणि देने से इनकार कर दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् सत्राजित् का अनुज प्रसेनजित उस मणि को पहनकर वन में आखेट के लिए गया। वह घोड़े पर सवार था। संयोग की बात, एक पर्वत की गुफा के पास एक सिंह ने घोड़े-सहित प्रसेनजित को मार डाला। दोनों का शव गुफा के द्वार पर छोड़ कर सिंह चला गया। उस गुफा के भीतर ऋक्षराज जाम्बवान रहते थे। जाम्बवान जब बाहर निकले तो उनकी दृष्टि सूर्य के समान चमकती स्यमंतक मणि पर पड़ी। उन्होंने उस मणि को ले जाकर खेलने के लिए अपने बालकों को दे दिया।

कई दिनों के पश्चात् श्री प्रसेनजित जब वन से लौटकर घर नहीं गया, तो

सत्राजित् ने सम्पूर्ण द्वारिका में यह खबर फैला दी कि श्रीकृष्ण ने उसके भाई की हत्या करा कर स्यमंतक मणि ले ली। भगवान श्रीकृष्ण के कानों में भी यह खबर पड़ी। वे अपने ऊपर लगे हुए कलंक को मिटाने के लिए प्रसेनजित और स्यमंतक मणि की खोज के लिए वन में गये। उनके साथ द्वारिका के कुछ श्रेष्ठ नागरिक भी थे।

भगवान श्रीकृष्ण प्रसेनजित की खोज करते हुए पर्वत की गुफा के पास गये। गुफा के द्वार पर प्रसेनजित और उसके घोड़े की लाश को देखकर उन्होंने सोचा, हो न हो, स्यमंतक मणि को ले जाने वाला इस गुफा के भीतर ही रहता है।

भगवान श्रीकृष्ण अपने साथियों को गुफा के द्वार पर छोड़ कर, अकेले ही गुफा के भीतर प्रविष्ट हो गये। उन्होंने अपने साथियों से कहा—जब तक मैं लौटकर न आऊं वे गुफा के द्वार पर ठहर कर मेरी प्रतीक्षा करें।

भगवान श्रीकृष्ण ने गुफा के भीतर जाकर कुछ बालकों को देखा, जो स्यमंतक मणि को खिलौना समझ कर उससे खेल रहे थे। भगवान श्रीकृष्ण बालकों के हाथ से स्यमंतक मणि छीनने लगे।

उसी समय वहां एक विशाल देहधारी पुरुष उपस्थित हुआ। वह ऋक्षराज जाम्बवान थे। वही जाम्बवान, जिन्होंने रामावतार में लंका-विजय में राम की सहायता की थी।

जाम्बवान ने मणि को छीनने से कृष्ण को रोका। फलतः कृष्ण और जाम्बवान में युद्ध होने लगा। 21 दिनों तक बराबर युद्ध होता रहा, किन्तु हार-जीत का निर्णय नहीं हो सका।

उधर गुफा के द्वार पर प्रतीक्षा करने वाले श्रीकृष्ण के साथी 12-13 दिनों के बाद ही द्वारिका लौट गये। उन्होंने द्वारिकावासियों को बताया कि किस प्रकार श्रीकृष्ण एक गुफा के भीतर घुस गये थे और अब तक बाहर नहीं निकले। द्वारिकावासी शंकित हो उठे। वे श्रीकृष्ण के कल्याण के लिए जप-योग करने लगे।

उधर 21 दिनों के पश्चात् भी जब जाम्बवान श्रीकृष्ण को पराजित नहीं कर सके, तो उन्हें निश्चय हो गया कि यह साधारण पुरुष नहीं, भगवान विष्णु के अवतार हैं। जाम्बवान ने भगवान श्रीकृष्ण की बहुत-बहुत प्रार्थना की। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को स्यमंतक मणि तो दे ही दी, उनके साथ अपनी पुत्री जाम्बवती का विवाह भी कर दिया।

कुछ दिनों पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण मणि और जाम्बवती के साथ द्वारिका गये। उनके लौटने से द्वारिका में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। भगवान श्रीकृष्ण ने

सत्राजित् को स्यमंतक मणि देकर अपने ऊपर लगे हुए कलंक को मिटा दिया। सत्राजित् ने श्रीकृष्ण के शौर्य और उनकी निश्छलता पर मुग्ध होकर उन्हें मणि तो दे ही दी, उनके साथ अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह भी कर दिया। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने मणि को लेना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मणि सत्राजित् को लौटा दी। मणि को लौटाने से श्रीकृष्ण पूज्य ही नहीं सर्वाधिक पूज्य बन गये। उन पर जो कलंक लगा था वह मिट गया।

भगवान कृष्ण ने द्वारिका में रहकर अनेकानेक लीलाएं कीं। उनकी लीलाओं से भारत ही नहीं, सारा विश्व प्रभावित हुआ।

